वैदिकधर्म

जुलाई

१९६८

५० पैसे

★

वैदिक धर्म

वर्ष ४९ : अंक ७ : आषाढ : २०२५

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

प्रधानसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

वि ष या नु क्र म णि का

१	हम पापोंसे दूर रहें	[वैदिक प्रार्थना]	९१
२	गीता-वाणी	श्री गजाननसिंह चौहान 'नम्र'	९२
३	भारतीयताका प्राण गोमाता	दयावती	९७
४	वैदिक रहस्य-विज्ञानका एक दृष्टिकोण	श्री सूर्यनारायण व्यास	१०४
५	क्या आपको कब्ज है ?	श्री प्रेमशरण शर्मा	१११
६	परंपरा और विकास	श्री माताजी	११३
७	विचारोंका अधिष्ठान	श्री भगवानराव आर्य भोसीकर	११७
८	भारतीय संस्कृति	मूल लेखक- पं. श्री. दा. सातवलेकर अनुवादक- श्री श्रुतिशील शर्मा	१ से ८
९	ऋग्वेदका सुबोध भाष्य	पं. श्री. दा. सातवलेकर	२५ से ४०

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

' संसारके पुस्तकालयमें ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रंथ है ' । संसारका ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो ऋग्वदमें न हो । दार्शनिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांसारिक आदि सभी विषयोंका समावेश ऋग्वेदमें है । अतः—

यदि आप जानना चाहते हैं

कि

(१) ऋग्वैदिक दार्शनिकता क्या है ?

(२) ऋग्वैदिक समाजशास्त्र क्या है ?

(३) ऋग्वैदिक भौतिकशास्त्र कैसा है ?

(४) ऋग्वैदिक अध्यात्मविद्या क्या है ?

(५) ऋग्वेदका सारांश क्या है ?

तो अवश्य ग्राहक बनिये—

म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर कृत

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(चार भागोंमें)

प्रकाशन कार्य आरंभ हो गया है। मंत्र, अर्थ, भावार्थ तथा हर मण्डलके अन्तमें उस मंडल का सारांश एवं कठिनस्थलोंका स्पष्टीकरण सभी कुछ पठनीय होगा । साइज– डबल क्राऊन ८ पेजी, सुन्दर कागज, पृष्ठ संख्या २५०० से ज्यादा, मूल्य मात्र २०) रु. प्रत्येक भाग, पर—

(१) जो पेशगी धन भेज कर इस ग्रंथके ग्राहक होंगे, उन्हें केवल ६०) में चारों भाग मिल सकेंगे ।

(२) जो ग्राहक चारों भाग एक साथ खरीदेंगे, उन्हें इस ग्रंथके कुल मूल्य ८०) रु. पर २० % कमीशन दिया जाएगा ।

(३) जो इस ग्रंथके कम से कम ७ ग्राहक बनायेंगे उन्हें लेखकके हस्ताक्षरके साथ चारों भाग मुफ्त भेंटस्वरूप दिए जाएंगे ।

विशेष विवरणके लिए लिखें—

व्यवस्थापक—

स्वाध्याय-मण्डल पारडी,

पोस्ट- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. बलसार]

... प्रसाद उपाध्याय ...कोटा,
'हरि निवास' ९/१०५, गु...
... काठमाण्डू (नेपाल)

ॐ

आषाढ : विक्रम संवत् २०२५

वैदिकधर्म

हम पापोंसे दूर रहें

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमं उक्तिं विधेम ॥
(ऋ. १।१८९।१)

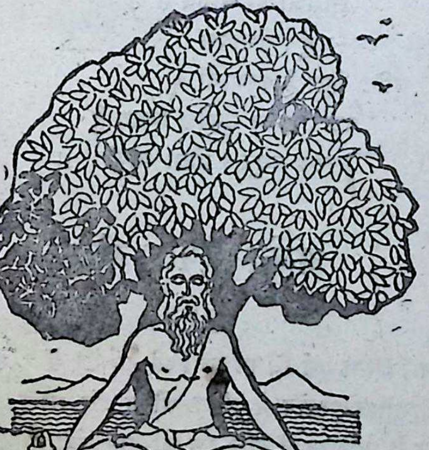

हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (राये) ऐश्वर्य की प्राप्तिके लिए (अस्मान् सुपथा नय) हमें उत्तम मार्गसे ले चल। हे (देव) तेजस्वी देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सम्पूर्ण मार्गोंको जानता है। (अस्मत् एनः युयोधि) हमें पापोंसे दूर रख। हम (ते) तेरे लिए (भूयिष्ठां नमः उक्तिं विधेम) अत्यधिक प्रणाम के वचन कहते हैं।

प्रकाश स्वरूप और तेजस्वी परमात्मा सम्पूर्ण मार्गोंको जाननेवाला है, वह जिस पर कृपा करता है, उसे ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिए उत्तम मार्ग परसे ले जाता है। वही पापोंसे दूर रखता है।

—•—

हिन्दी-काव्य

गी ता वा णी

कर्मयोगी निष्कामी होकर पावन कर्म करो प्राणी।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित है पवित्र गीता-वाणी॥

रचयिता— श्री गजाननसिंह चौहान 'नम्र'

[परम प्रभु सृष्टिस्वरूप एवम् आदि पुरुष वासुदेवकी आत्म-प्रेरणासे त्रिगत गीता जयंतीके शुभ-अवसर पर मैंने श्रीमद्भगवद्गीताका मूल स्वरूप राष्ट्र-भाषा हिंदीमें काव्य रूपमें चित्रित करनेका प्रयास किया है।

श्रीमद्भगवद्गीताका धार्मिक-आध्यात्मिक विषय अत्यंत गहन और ज्ञानसे पूर्ण है। इसे महाप्रभु वासुदेवने अपने परम प्रिय भक्त, वीर-प्रवर अर्जुनको लक्ष्य कर ज्ञानामृत रूपमें कहा है। इसी ज्ञानामृतको सर्व साधारण हिन्दीपाठकोंके लाभार्थ मैंने काव्यरूपमें प्रस्तुत किया है। जिससे संस्कृत भाषासे अपरिचित मानव भी "गीता-वाणी" का पाठ कर उसी भांतिसे प्रसन्न और संतुष्ट होवें जैसा संस्कृतका ज्ञाता पाठक 'श्रीमद्भगवद्गीता' का पाठ कर होता है।

आशा ही नहीं, वरन पूर्ण विश्वास है कि इसे धर्मपरायण प्रेमी पाठक अपनाकर अपनी सहृदयता एवं सुविज्ञताका परिचय देंगे। साथ ही स्नेहमय आशीर्वाद प्रदान करेंगे। जय श्रीकृष्ण!]

पूर्वाभास

द्वापर युगमें इस भारतमें
हुवा 'महाभारत' संग्राम।
कौरव और पांडवोंके दलके
वीर अनेकों आये काम॥

किंतु युद्ध-प्रारंभ के अवसर
प्राप्त हुवा अर्जुनको मोह।
रण के विमुख-विचारों कारण
जाग्रत हुआ हृदय-विद्रोह॥
उस अवसर पर स्वयं भक्त की
दशा निहारी माधव ने।
कर्मवीर निष्कामी बनने
सुशिक्षा दी माधव ने॥
यही कृष्ण-अर्जुन संभाषण
सृष्टि हित है कल्याणी।
'नम्र' कृष्ण उपदेश विषय है
सरल मधुर 'गीता-वाणी'॥

अर्जुन विषाद-योग

[१]

प्रबल पिपासा पूर्ण विजय की लिये हुए उर में भारी।
हुए एकत्रित कुरुक्षेत्र में पांडव-कौरव बल-धारी॥
संजय से धृतराष्ट्र हैं बोले रण की बात कहो ज्ञानी।
शक्तिशाली दोनों दलों की कैसी स्थिति है मानी॥
कहा विनय से तब संजय ने सुनो वीर वर नृप ज्ञानी!
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित है पवित्र गीता-वाणी॥

[२]

पराक्रमी पांडवों की सेना सजी हुई थी व्यूह-आकार !
द्रुपद तनय-सात्यकि-विराट थे भीमार्जुन से वीर अपार ।।
धृष्टकेतु-पुरुजित्-काशीनृप, शूरवीर शक्ति-आगार ।
उत्तमौजा-युधामन्यु-सुभद्रा का सुत तेज वीर अवतार ।।
और द्रौपदी के पांचो सुत महावीर थे रण-ज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[३]

अति विशाल कौरवसेना की भव्य मनोहर है रचना ।
भीष्म-कर्ण और आप हैं रक्षक कृपाचार्य के क्या कहना ।।
भूरिश्रवा अश्वत्थामा हैं विकर्ण जैसे वीर महान् ।
दुर्योधन की सेना में हैं वीर अनेकों रण-बलवान् ।।
रणस्थल पर खडे सुभट हैं दोनों दल के सेनानी ।
श्रीकृष्ण के मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[४]

नगारों और शंख ढोल की नभ में गूंजी प्रतिध्वनि ।
दोनों दलों के रम्य बाजोंसे गूंज उठे पर्वत अवनि ।।
शस्त्र चलाने के अवसर पर कपिध्वज अर्जुन यों बोले ।
मध्य ले चलो दोनों दलोंके रथ मेरा प्रभुवर ! हौले ।।
रणप्रमत्त-संग्राम भूमि पर देखूंगा मैं सेनानी ।
श्रीकृष्ण के मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[५]

जिनसे मेरा युद्ध योग्य है, उनको लेऊं तनिक निहार ।
और सुयोधन के हितचिंतक, मित्रों को देखूं साकार ।।
श्रीकृष्ण ने भीष्म-द्रोण के, सम्मुख रथ ला खडा किया ।
वीर प्रतापी कुंतीपुत्रको, सैन्य निरखने समय दिया ।।
बंधु-गुरु-सुत-पिता-पौत्र को, लख अकुलाया भटमानी ।
श्रीकृष्ण के मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[६]

सखा कृष्ण ! रण उत्सुक दलको, देख शिथिल मम अंग हुवे ।
शुष्क वदन होता है मेरा, मन-तन विचलित संग हुवे ।।
हाथों से गांडीव छूटता, तन जलता, मन है व्याकुल ।
हे केशव ! विपरीत लक्षणों से होता अंतर-आकुल ।।
कुल विनाश की देख रहा हूं छाया रण में तूफानी ।
श्रीकृष्ण के मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[७]

अभिलाषा है नहीं विजय की, प्राप्त राज्य कर सुख चाहूं ।
स्नेही बंधु पिता-पौत्र को, रण में वध कर इठलाऊँ ।।
मधुसूदन ! तीनों लोकों की दौलत से है घृणा मुझे ।
धरती के साम्राज्य के हेतु इन्हें मारना वृथा मुझे ।।
गांधारी के तनय मारकर, नहीं हर्ष है कल्याणी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[८]

आततायियों के विनाश से, हम अघ के होंगे राही ।
मिटा स्वयं परिवार सलोना, नहीं चाहते सुख-शाही ।।
लोभी मानव लोभ के कारण नहीं देखते दोषों को ।
कुल विनाश के पाप से बचना हमें सिखाना औरों को ।।
कुल विनाश ही धर्म नाश कर देता पीडा अनजानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[९]

अधिक पापसे दूषित होती, उत्तम कुलकी सन्नारी ।
वर्णसंकर संताव है होती, कुल-घाती स्वेच्छाचारी ।।
इनसे जाते पितर नर्कमें, जाति-मान हो जाता क्षीण ।
धर्म सनातन नष्ट होता है, नर्कवासी बनते; हो दीन ।।
बुध्दिमान् होकर भी केशव ! कर्म करें क्यों अज्ञानी ?
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[१०]

मेरा निहत्थेका वध चाहें, कौरव सारे कर देवें ।
अतुल हर्ष होवेगा मुझको, शस्त्र सुसज्जित हो लेवें ।।
इस प्रकार माधवसे कहकर, बैठा अर्जुन बल-वाला ।
शोक-वेदना और मोहकी, धधक रही थी उर-ज्वाला ।।
वासुदेवने स्वयं भक्तकी, दीन-दशा तब पहिचानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

सांख्ययोग

[११]

हे अर्जुन ! इस विषम समयमें, क्यों आया तुमको अज्ञान ?
श्रेष्ठ पुरुषोंने सदा है त्यागा, ऐसा आचरणहीन महान् ।।
नहीं प्रदाता स्वर्ग-सुयशका, योग्य नहीं तुझको बलवान् ।
त्याग नपुंसकता अंतरकी, युद्धहेतु उठ वीर जवान ।।
क्षुद्र हृदयकी दुर्बलताको, त्याग परंतप ! ओ ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ।।

[१२]

श्याम सखा ! किस भांति युद्धमें भीष्म- द्रोणको संहारूं ?
पूज्यनीय मेरे हित दोनों किस हेतु इनको मारूं ?
उचित यही है भिक्षा द्वारा, जीवन-यापन सुखदाई ।
गुरुजनोंके रक्तसे रंजित, काम-भोग हैं दुःखदाई ॥
श्रेष्ठ कर्म और अभय विजयसे, अपरिचित हैं अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१३]

नहीं कामना है जीवनकी, जिन्हें मारकर हे भगवन् !
सम्मुख बंधु-पौत्र सहित है, खडा हुवा वह दुर्योधन ॥
बना हुवा भीरू स्वभावका, धर्म विषयमें अज्ञानी ।
शिष्य आपका मैं हूं भगवन्, कहिये साधन कल्याणी ॥
शरण आया हूं भ्रमसे मोहित, हाथ गहो सारंगपाणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१४]

नहीं दिखाई देता मुझको, शोक रहित होनेका यत्न ।
प्राप्त मुझे देवोंका वैभव, भूमि-राज्य लक्ष्मी-सुरत्न ॥
कहा धनंजयने केशवसे, नहीं करूंगा मैं संग्राम ।
शोकग्रस्त कौन्तेयसे बोले, मंद विहंस कर तब घनश्याम ॥
शोक रहित मनुजोंके विषयमें, करता तर्क होकर ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१५]

जो जीवित हैं और जिन्होंने त्याग दिये हैं अपने प्राण ।
उनके विषयमें शोक न करते, कभी सोचकरके विद्वान् ॥
बृथा शोक है क्योंकि आत्मा, सदा अमर रहती बलवान् ।
पहिले भी हम तुम थे जगमें, और सभी प्राणी-इंसान ॥
और भविष्यमें होंगे सारे, धरती पर रख तन प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१६]

युवा-वृध्द-कौमार्य अवस्था, प्राप्त देहको ज्यों होती ।
अन्य शरीरोंमें भी आत्मा, जन्म उसी भांति लेती ॥
अलग अवस्थाओंका होना है, केवल स्थूल-विकार ।
वशीभूत अज्ञानके होकर, आत्म भासती सूक्ष्म विकार ॥
इसी हेतु मोहित नहीं होता, आत्म तत्वका वर-ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१७]

क्षणभंगुर है सुख-दुख दाता, भोग-विषय; इन्द्रिय-संयोग ।
सहन सतत जो इनको करता, वही मोक्ष पाता सुख-ओक ॥
असत्यका अस्तित्व नहीं है, और सत्यका नहीं अभाव ।
अवलोका ज्ञानी पुरुषोंने, भली-भांति इनका स्वभाव ॥
इसीलिए अविनाशी वह है, पूर्ण जगत भी यह मानी ।
श्रीकृष्णसे मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[१८]

चिर शाश्वत विनाश हीन है, जीव-आत्मा नित्य स्वरूप ।
केवल होती नष्ट है काया, माया -वश रखती जो रूप ॥
जान रहे विनाशी आत्मा, पाती समय पर जो निर्वाण ।
समझ नहीं वे तनिक हैं पाये, सदा है आत्मा अमर महान् ॥
हीन जन्म मृत्युसे शाश्वत, नित्य पुरातन यह मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता -वाणी ॥

[१९]

पृथापुत्र जो इसे जानता सदा अमर और अविनाशी ।
कैसा पुरुष ?वह किसे मारता ? अमर है आत्मा सुखराशी ॥
जीर्ण वस्त्र होने पर मानव करता त्याग है जिस भांति ।
जीव जीर्ण कायाको तजता छोड पुरातन आसक्ति ॥
फिर नवीन धारण करता है वस्त्र -वदन जगमें प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२०]

शस्त्र नहीं छेदन कर सकते, अग्नि नहीं जला सकती ।
पानी नहीं भिगा सकता है वायु नहीं सुखा सकती ॥
है अच्छेद्य अदाह्य आत्मा और अशोष्य यह चिर व्यापक ।
अटल सनातन नित्य यही है कथन रहित यह अविषयक ॥
है विकारसे रहित आत्मा शोक न कर अर्जुन ! ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२१]

जन्म और मृत्यु पाती है अगर आत्मा यह चंचल ।
मरकर जन्म करेगी धारण यही आत्मा नूतन पल ॥
इसी नियमको अगर मानता तो भी चिंता लेश न कर ।
भीष्म आदिके तन नश्वर हैं यही जानकर क्लेश न कर ॥
पूर्वजन्ममें निराकार थी मृत्यु बाद है बिन ध्यानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[२२]

आत्मतत्त्व अत्यंत गहन है, महापुरुष ही पहिचाने ।
सुने दूसरा चकित भावसे, कहे तीसरा गुण–जाने ॥
कोई इसको ठीक श्रवण कर, फिर भी पूर्ण नहीं माने ।
सर्व–वदनकी महा–आत्मा, है अवध्य बिरला जाने ॥
इसीलिए संपूर्ण भूतोंकी, छोडो पीडा अनजानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२३]

निरख धर्म–कर्तव्य सामने; किंचित् भी भयभीत न हो ।
सुखद स्वर्ग क्षत्रियके हेतु पार्थ ! मोह उर–प्रीत न हो ॥
धर्मयुध्दमें नहीं लडा तो, अपयश होगा दुखदाई ।
सभी व्यक्ति अपकीर्ति कहेंगें, बहुत काल तक दुहराई ॥
जिन हृदयोंमें मान बना है, तुच्छ पार्थ होगा मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२४]

भव्य पराक्रमको निंदासे, दुश्मन तव धिक्कारेंगे ।
कहने जैसे वचन न होंगे, मुखसे उन्हें निकालेंगे ॥
उससे बढकर कष्ट नहीं है, तेरे अंतर–हित भाई ।
अतः युध्द करना अच्छा है, सभी भांतिसे सुखदाई ॥
मरा युध्दमें स्वर्ग मिलेगा, जीता तो यश सेनानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२५]

चाह नहीं है राज्य–हर्ष की, तो इनका कुछ मान न कर ।
हानि–लाभ और हार जीत का, अंतर में कुछ ध्यान न कर ॥
निष्कलंक फिर कहलायेगा, जूझ युद्ध में बलशाली ।
ज्ञानयोग बतलाया तुझको, पार्थ ! सलोना यश–शाली ॥
कर्मयोग निष्काम सिखाता, बंधन मुक्त होना ज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२६]

नहीं होता विनाश बीज का, फलस्वरूप भी दोष नहीं ।
जन्म–मृत्यु–भय का उद्धारक, धर्म–साधन है तोष यही ॥
मुक्ति–मार्ग है इसमें अर्जुन; निश्चय बुद्धि एक महा ।
अज्ञानी पुरुषों की बुद्धियां, भागों युत अनेक यहां ॥
फलश्रुति में प्रीति रखते, कामी पुरुष हो अज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२७]

भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति की बातें करते जो हर पल ।
वाणी द्वारा भ्रमित पुरुष की होती बुद्धि बिलकुल चंचल ॥
सर्व वेद तीनों प्रकार के कामों हित करते प्रेरित ।
निष्कामी–निर्द्वन्द्व–परायण आत्म–रूप बन सुंदर नित ॥
योगक्षेम से नित्य वस्तु में स्थिर होकर बन ज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२८]

दीर्घ जलाशय के पाने पर लघु की होती चाह नहीं ।
ब्रह्मानंद की त्यों प्राप्ति पर होती वैदिक चाह नहीं ॥
कर्म और फल में आसक्ति तजकर कर्म वीर बन जा ।
सिद्धि असिद्धि में योगी हो सुंदर साम्य–वीर बन जा ॥
अपनाकर बुद्धि समत्व की कर्म–प्रीति तज अज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[२९]

पाने से बुद्धि समत्व तज पाप पुण्य देता इंसान ।
कहने का अभिप्राय यही है प्रेम नहीं रहता नादान ॥
कर्मों से छुटकारा सुन्दर समत्व बुद्धि है देती ।
जन्म–रूप–बंधन विनाश कर, श्रेष्ठ परम पद है देती ॥
मोह–कीच वैराग्य को तज कर, उभर आती जीवन तरणी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[३०]

‘ विचलित है सिद्धांत अनेकों से बुद्धि तव अनजानी ।
अचल और स्थिर बनेगी ब्रह्म रूप या जब ज्ञानी ॥
सुखद योग समत्व के द्वारा पार्थ ! ज्ञान होता उत्पन्न । ’
‘ कौन बुद्धि स्थिर समाधि लीन पुरुष होता भगवन ?
कैसा बोलता और बैठता, लक्षण उसके क्या मानी ? ’
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[३१]

पार्थ प्रश्न सुनकर के प्रभुवर वासुदेव बोले वाणी ।
त्याग पूर्ण इच्छाएँ देता स्थिर बुद्धि होता प्राणी ॥
स्वयं आत्मा से संतोषी होती आत्मा है उस काल ।
हर्ष क्लेश में स्पृहा जिसकी होती बुद्धि पार्थ ! विशाल ॥
राग–क्रोध–भय से विमुक्त वह मुनितुल्य होता प्राणी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता–वाणी ॥

[३२]

जो सर्वत्र प्रमुदित रहता स्नेह रहित होकर निर्द्वन्द्व ।
लाभ-हानि में द्वेष न रखता होता स्थिर बुद्धि मंद ॥
अंगों को अपने लेता है समेट कछुआ जिस भांति ।
श्रेष्ठ पुरुष इन्द्रियाँ स्वयं की समेट लेता इस भांति ॥
इसी अवस्था में होता है स्थिर बुद्धि वह ज्ञानी ।
श्रीकृष्ण के मुख से मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३३]

इन्द्रिय-विषय नहीं लेता है, निवृत्त होते स्वयं विषय ।
स्थिर बुध्दि वाला मानव, होता निवृत्त राग-अभय ॥
यत्ननिष्ठ मानवके मनको, हरती इन्द्रियां हो चंचल ।
अतः समाहित होवे मुझमें, वशमें इन्द्रियाँ कर चंचल ॥
वशीभूत इन्द्रियां हैं जिसकी स्थिर बुद्धि वह प्राणी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३४]

वशमें इन्द्रियां मनके साथमें यदि नहीं है बलशाली ।
मनसे चिंतन जरा हुवा तो कर्मठ होती गुण-शाली ॥
विघ्न कामनासे गर उपजा जाग्रत होता क्रोध कराल ।
तब होता अज्ञान है पैदा लिये मूढता-भाव विशाल ॥
शक्ति-स्मरण, भ्रमित बनाकर करता अंतर अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३५]

होती ज्ञानशक्ति विनष्ट तो, पुरुष श्रेयसे गिर जाता ।
शुद्ध हृदयका पुरुष द्वेष तज, जीत इन्द्रियां सुख पाता ॥
उस क्षण होती नष्ट वेदना, अंतर निर्मल बन जाता ।
स्थिर बुद्धि पुरुष हर्षसे, तब शांति उत्तम पाता ॥
साधनहीन पुरुषकी बुद्धि, होती सत्वर अज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३६]

स्थिर बुद्धि नहीं होनेसे वह अयुक्त है कहलाता ।
अंतःकरणसे उसके अंदर भाव आस्तिक मिट जाता ॥
अतः नास्तिक उस मानवको मिलती शांति लेश नहीं ।
शांतिहीनको सुख भी सच्चा मिलने पाता लेश नहीं ॥
हरण हुवा करती जल-नौका वैसी इन्द्रियां भी मानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३७]

ये बलशाली पूर्ण इन्द्रियां, जिसके हैं संपूर्ण अधीन ।
स्थिर बुद्धि योगी वही है, साधक उत्तम धीर-प्रवीण ॥
भूत प्राणियोंकी रजनीमें, करता जागरण योगी जन ।
नाशवान सांसारिक सुखमें, सोता श्रेष्ठ मुनि सा जन ॥
अचल सिंधुमें जैसी मिलती सरिताएं लेकर पानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

[३८]

सांसारिक सुख उसी भांतिसे, स्थिर बुद्धिमें होते लीन ।
पूर्ण शांति योगी सम पाता, स्थिर-बुद्धि शांत नवीन ॥
तजकर पूर्ण कामनाओंको, जो होता ममतासे हीन ।
अहंकार-स्पृहा त्यागकर, परम शांति पाता हो लीन ॥
ब्रह्मलीन वह होता मानव, ब्रह्मानंद पाकर ज्ञानी ।
श्रीकृष्णके मुखसे मुखरित, है पवित्र गीता-वाणी ॥

(क्रमशः)

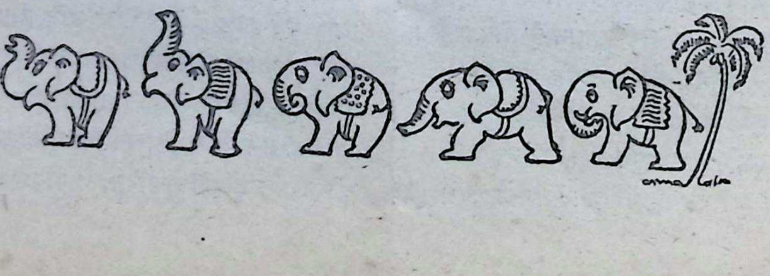

भारतीयताका प्राण गोमाता

गोमाताका आध्यात्मिक महत्त्व

लेखिका— दयावती, भक्तिसेवाश्रम, डा. वनत, जि. मुजफ्फर नगर (उ. प्र.)

भारत, जिसकी आत्मा आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत है, जिसके जीवनका प्रत्येक आचरण उसे उसकी सचाई, न्याय और मानवताकी सुरक्षाका संतोष दिए बिना जीवनकी व्यर्थताका आभास करता है, जिसकी संस्कृति आज भी संसारकी सर्वोच्च संस्कृतिका गौरवपूर्ण उच्चासन लिए हुए है, आध्यात्मिक दृष्टिसे एक आध्यात्मवादी तथा भौतिक दृष्टिसे कृषिप्रधान –देश है। भारतमें आजके संसार व्यापी कुरुचिपूर्ण, कलुषिता समाजघाती वातावरणमें भी यदि कोई विशेषता है तो वह है उसका अपनी मानवीय संस्कृतिके लिए अटूट प्रेम और गोमाताके लिए मानवके सर्वश्रेष्ठ गुरु अपनी जन्मदात्री जननी जैसी अटल श्रद्धा।

भारतके दूरदर्शी ऋषि मुनियोंने, जिन्होंने भारतके मानव जीवनको सार्थक करनेवाले गोपालनके इस भारतीय आदर्शको जन्म दिया है, युग युगान्तरकी खोजके पश्चात् मनुष्येतर प्राणियोंमेंसे एकमात्र गोमाताको ही एक ऐसा प्राणी पाया जो मानवकी आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकारकी भूखको शान्त करनेवाला है। मानव सृष्टि सर्वभक्षी स्वभाव की है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि पृथ्वी या जल पर चलनेवाले रेलगाडी, मोटर, तांगे, रिक्षा, बैलगाडी और नौका स्टीमर आदि वाहन तथा आकाशमें चलनेवाले हवाई जहाजोंको छोड कर जल, थल, नभचारी कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो इस निष्ठुर हृदयहीन मानवजातिका आहार न हो। विधाताकी सर्वश्रेष्ठ सृष्टि मानव जातिके इस सर्वभक्षी स्वभाव पर नियंत्रण करनेके लिए ही हमारे पूज्य, दयार्द्र हृदय ऋषि मुनियोंने अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म खोजोंके अनंतर गोमाता जैसे अतीव प्यारे और मानवके जीवनके चतुर्मुखीविकासमें उपयोगी प्राणीको मानव समाजके अभिन्न साथीके रूपमें वरण किया। उन्होंने देखा कि यही एक ऐसा प्राणी है जो मानवके दैनिक जीवनमें मानव ऐसा ही घुल-मिल सकता है। इससे मानव हृदयका आध्यात्मिक प्यास तो बुझेगी ही साथ ही यह उसके भौतिक जीवनकी भी सभी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें सर्वोपयोगी होगा। मनुष्य जीवनका उद्देश्य केवल भोजनादि करते रहना ही नहीं है किन्तु अपने जीवनाधार सत्यको अपने जीवनके प्रति मुहूर्तमें अपने ज्ञान चक्षुसे प्रत्यक्ष करके उसे अपने दैनिक जीवनके प्रत्येक व्यापारमें प्रगट करना है। इसीलिए भारतके विचार शील अध्यात्म–प्रेमी ऋषियोंने गोमाताको अपने इस उद्देश्य की पूर्तिका महान् साधन मान कर उसे अपने अविच्छिन्न जीवन–साथीके रूपमें अर्थात् मानव जैसा ही रक्षणीय मान कर अपनाया है।

गोमाताके सम्पर्कमें रहनेसे मानवके हृदयमें सभी मानवीय गुणोंका विकास अनायास होता है। गोमाताका प्रेमल रूप निष्ठुरताकी पराकाष्ठावाले मानव स्वभावको अपने प्रथम दर्शनमें ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। गोमाताका जीवन स्वयमेव स्वाभाविक सेवा परायणताकी प्रतिमूर्ति है।

गोमाता स्वभावसे जीवनभर निष्काम सेवामें रत रहती है। उससे सेवा किए विना रहा ही नहीं जाता। वह अपनी उस सेवाके बदलेमें अपनेसे प्यार करनेवाले मानवसे केवल प्यार मांगती है। इसका सेवक अपनी इच्छासे उसी जैसे सेवा परायण स्वभावको अपना कर उसकी प्रेमपूर्ण सेवाके

प्रतिपादनमें उसकी जो भी सेवा करता है, उसे जो भी कुछ खानपान देता है उसे वह महती कृतज्ञतासे और प्रेमसे स्वीकार करके अपने सेवकके जीवनको धन्य करती है। उसके छोटे छोटे बच्चे अपनी चंचल चित्ताकर्षक रूपमाधुरीसे अपने सेवाको के भौतिक प्रतिकूल घटनाओंके कारण विषाद-ग्रस्त बने हुए हृदयको हल्का करके उन्हें उनके स्वाभाविक आत्मानंदमें मग्न कर देते हैं। गोमाताके सम्पर्कसे कहना चाहिए उसके यदृच्छा लाभ स्वाभाविक सत्संगसे मानवमें प्रेम, दया, करुणा, श्रद्धा, भक्ति, निष्काम सेवापरायण तथा कृतज्ञता आदि सर्वोच्च मानवीय गुणोंका विकास अनायास ही होता है। भारतीय संस्कृतिमें पला हुआ भारतीय प्रायः अपनी आध्यात्मिक प्यासको बुझानेके लिए संतोंके सत्संगकी ढूंढमें दूर दूर मारा मारा फिरता पाया जाता है। यदि वह अपने गृह तथा जीवनकी संरक्षिका गोमाताका पालन उपरोक्त दृष्टिकोणसे करे तो उसे घर बैठे ही संतोंके सत्संगका आनन्द प्रतिक्षण प्राप्त होता रहे और वह उस आनन्दका भागी अपने समग्र परिवारको भी सरलतासे बना सके। वास्तवमें गोमाता हमारे गृहस्थ जीवनका अविभाज्य अंग है। विवाहके समय पिता जब कन्यादान करता है। तब कन्याके गृहकी लक्ष्मी गौ भी उसे दानमें देता है। उसका एक मात्र अभिप्राय कन्याको यही उपदेश देना है कि वह अपने गृहस्थ जीवनकी अभिन्न संगिनी गोमाताको अपनेसे पृथक कभी न करे।

भारतीय मान्यताके अनुसार मानवकी जननी उसके सभी गुरुजनोंमें सर्वश्रेष्ठ गुरु मानी जाती है। उसका एकमात्र कारण यही है कि माता मनुष्यको जन्म देकर उसके बाल शरीरका तो पोषण करती ही है साथ ही उसके मनको भी बचपनसे ही मानवताका प्रेमी बनाकर उसे उसके भावी जीवनमें अनिवार्य रूपसे आनेवाले देवासुर संग्रामका विजयी योद्धा भी बनाती है। मानवके कोमल शिशु-जीवन पर पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरणसे पहले माताके आचार विचारका ही सुदृढ प्रभाव पडता है। इसी लिए भारतीयोंने गायको उसकी सर्व प्रकारका मानवीय आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवाला होनेके कारण अपने कृतज्ञ हृदयसे अभिभूत होकर अपनी सर्वश्रेष्ठ श्रद्धाकी अधिकारिणी माताका गौरवमय आसन प्रदान किया है। जिस प्रकार कोई भी भारतीय अपनी जननीके लिए किसी भी प्रकारका अमानवीय भावनाको अपने मनमें स्थान नहीं दे सकता, उसी प्रकार गोमाताका अनिष्ट करनेवाली कोई भी भावना, युक्ति या योजना उसके श्रद्धालु हृदयको किसी भी स्थितिमें मान्य नहीं हो सकती। एक सच्चे भारतीयकी गोमाताके प्रति यह पवित्र भावना अकारण ही नहीं है। इसका सुदृढ आधार है उसकी आध्यात्मिकता, जिसका थोडासा वर्णन कुछ शब्दोंमें ऊपर देनेका प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त गौसे भारतीयको जो लाभ होता है वह भी उसके जीवनके लिए सर्वोपयोगी है।

गोमाताके शरीरसे होनेवाली सेवा

गाय जब अपनी प्रथमावस्थामें होती है अर्थात् जब वह माताका दूध पीती होती है। उस समयका उसका मूत्र मानव शरीरके अनेक रोगोंकी अमोघ ओषधि है। बछियाका मूत्र तुरंत ताजाताजा एक निश्चित मात्रामें पीनेसे जिगर और तिल्लीके लिए बहुत ही लाभदायक है। हमारे आयुर्वेदमें वर्णित गौके दूध, घी, दही, व छाछका नाना प्रकारसे किया गया प्रयोग मनुष्यको नाना प्रकारके रोगोंसे अनायास ही मुक्त करके उसके शरीरको स्वस्थ रखता है। गायके दूधका तक्रसंग्रहणीके लिए अमोघ औषधि है। गायका दूध पीनेसे शरीरमें उत्साह और धर्म-तत्परताकी वृद्धि होती है। जब कि भैंसका दूध पीनेसे शरीरमें जडता और आलस्यकी वृद्धि होती है। गायका गोबर पेशाव प्रथम तो हमारी खेतीके आधार बहुमूल्य खादके काम आता है। दूसरे उसके गोबरसे उपले बना कर उन्हें इंधनके रूपमें उपयोग करके उनसे भोजन बनाया जाता है। उपलों जैसा शुद्ध और कम खर्चावाला इंधन व दूसरा नहीं है। उपलोंकी आग १४ घन्टे सुरक्षित रखी जा सकती है। वह हर समय दियासलाई जलानेके अप-व्ययसे बचाती है। आजकल हमारी सरकार छोटी बचत योजनाके पीछे पडी हुई है। उसमें दियासलाईके खर्चकी यह बचत कम महत्त्व नहीं रखती। गायके मलका तीसरा महत्त्व पूर्ण उपयोग हम भारतीयोंके यहां अपने मकानोंकी शुद्धिके लिए होता है। प्रतिदिन नहीं तो सप्ताहमें एक बार तो हम अपने घरोंको लीपपोत कर साफ सुथरा बनाते हैं। गायके गोबरसे घरोंको लीपनेसे घरोंके सब विषैले कीटाणू सरलतासे नष्ट हो जाते हैं। उन्हें नाश करनेके लिए हमें, यदि हम गोबरका उपरोक्त श्रद्धालु प्रयोग नियमित रूपसे करें तो, कीटाणु नाशक विषैली कृत्रिम औषधियोंका उपयोग जो हमारे आर्थिक जीवन पर भार स्वरूप तथा शरीरको रोग-ग्रस्त बनानेवाली ही है, करनेकी आज आवश्यकता न पडे।

गाय और भैंसके दूधका संतुलन

गायका दूध यदि हमें नियमित रूपसे न्यूनतम मात्रामें एक पाव प्रतिदिन भी पीनेको मिल जाय तो वह हमारे शरीरको सक्षम बनाये रख सकता है। रुग्णावस्थामें शरीरकी क्षीण शक्तिको सुरक्षित रखनेके लिए गायके दूधसे बढकर हल्का और पौष्टिक पथ्य दूसरा नहीं है। रोग-मुक्त होनेपर शरीरकी क्षीण हुई शक्तिको पुनः प्राप्त करनेके लिए यदि यथेच्छमात्रामें अर्थात् गायका कमसे कम आधा सेर दूध भी प्रतिदिन पी लिया जाय तो किसी भी विटामिनके सेवनकी आवश्यकता नहीं देखी है। दूध एक ऐसा पथ्य है जो शीघ्रतम समयमें रक्तके साथ मिश्रित होकर शरीरमें तुरंत शक्ति प्रदान करता और वह है गायका। क्योंकि भैंसका दूध गरिष्ठ होता है। उसे पचानेमें बडी कठिनाई होती है। सबसे बडी हानिकर कमी भैंसके दूधमें यह है : कि उसके सेवनसे मनुष्यके शरीरमें वायुकी वृद्धि होती है और जिगर खराब होजाता है। बच्चोंके लिए तो भैंसका दूध अत्यंत हानिकर है। मनुष्यको जो मानसिक भोजन चाहिए वह तो गायके दूधसे सुलभ है ही उसके शारीरिक भोजनकी स्वास्थ्यप्रद आवश्यकताएं भी गायके ही दूधसे सुरक्षित रहना सम्भव है। कहते हैं कि गायके दूधमें घी कम होता है इसलिए घी की समस्या हल करनेके लिए उसके स्थानपर भैंस ही उपयुक्त है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। गायके दूधमें घीको कमी उसका दोष नहीं है। अपितु स्वास्थ्यके लिए लाभकारी गुण ही है। इसी गुणके कारण वह शीघ्र पच जाता है और तुरन्त रक्तके साथ मिलकर शरीरको शक्ति देता है। गरीब भारतका ग्रामनिवासी यदि गायके दूधसे पर्याप्त घी नहीं पा सकता तो वह उसके दूधसे ही अपने शरीरकी घीकी कमी दूरकर लेता है। यदि उसे घी चुपडी रोटी मिलनी संभव नहीं होती तो वह गायके दूध, दहीसे रोटी खाकर घी चुपडी रोटीसे भी कहीं अधिक तृप्ति अनुभव करता है। गायका दूध, घी, पेशाब, गोबर और उसके मृत शरीरका हड्डी चमडा सभी कुछ मानव जीवनके लिए भैंसकी अपेक्षा अधिकतर उपयोगी है। भैंसका दूध तो मनुष्यके शरीरके लिए हानिकर है उसका गोबर पेशाब भी सिवाय खादके अन्य किसी लाभप्रद कामकी वस्तु नहीं है।

×

गाय और भैंसके इस तुलनात्मक विवेचनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि भैंस हमारे कामकी वस्तु ही नहीं है। और उसका पालन हमारे लिए निरर्थक है। भैंस तो हमारे देशमें चिरकालसे संरक्षण पाती रही है। उनके संरक्षणने गौओंका महत्त्व छीन लिया हो ऐसी भी बात नहीं है। दोनों ही अपने अपने स्थानपर अपना अपना महत्त्व रखती हैं। आजकल तो भैंसे हमारी खेतीका तथा अन्य प्रकारका बोझा ढोनेके भी काममें आरहे है। और इस काममें बैलोंकी अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुए है। परन्तु बैलोंसे खेतीके नाना प्रकारके सभी काम लिए जासकते है जो भैंसोंके लिए संभव नहीं हैं। खेत जोतना, रहट चलाना, कोल्हू चलाना तथा रथ चलाना आदि वाहनके काम बैल जितने उत्तम रीतिसे कर सकता है भैंसे नहीं कर सकते। बोझा ढोनेमें भी भैंसेको यदि धूपके समय चलाया जाय तो उसे अत्यधिक कष्ट होता है। बैल बेचारा तो सुबह दोपहर शाम रात किसी भी समय चलनेसे मना करना यह जानता ही नहीं।

आर्थिक दृष्टिसे गाय और भैंस

हमारी अर्थव्यवस्थाका आधार मनुष्य समाजकी शरीर रक्षा अर्थात् भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति है। उस दृष्टिसे गाय मनुष्यके लिए जितनी उपयोगी है उतनी भैंस नहीं होसकती। आर्थिक दृष्टिकोणसे इसपर विचार करें तो हम देखेंगे कि हमारी अर्थव्यवस्थामें भैंसके मुकाबले गाय ही टिकाऊ होसकती है। अर्थव्यवस्थाके दोनों ही पहलुओं आय और व्यय पर विचार होना चाहिए। यदि हमें गाय मोल लेनी पडे तो हम प्रायः ७ सेर दूध देनेवाली गाय अधिकसे अधिक २५० रुपयेमें लेसकते हैं। जबकि इतने दूधकी भैंस हमें कमसे कम ५०० रुपयेमें मिलेगी। इतने दूधकी गायका प्रतिदिन दाने और चारेका खर्चा लगभग ३ रुपये होता है। जब कि ऐसी भैंसका खर्चा लगभग ६ रुपये होता है। गायके रहनेके लिए जितने स्थानकी आवश्यकता होती है भैंसके लिए उससे छेगुने स्थानकी आवश्यकता होती है। गरीब भारतके ग्रामीण अपने एक छोटेसे मकानमें स्वयं भी रह सकते है और गायको भी रख सकते है जबकि उस जगहमें भैंसका रखना उनके लिए कष्ट साध्य होता है। मानव परिवारके साथ घुलमिलकर

रहनेकी जो क्षमता गायमें है वह भैंसमें नहीं है। गायके गोबर पेशाबकी सफाईमें यदि एक घंटा लगता है तो भैंसकी उस सफाईमें दो घंटा लगता है। गाय स्वभावसे सफाई पसन्द प्राणी है, भैंस गन्दगी पसन्द प्राणी है। गाय अपने नीचेका स्थान अपने आप ही साफ रखनेका पूरा प्रयत्न करती है, भैंस गन्दगीमें ही बैठी रहती है। आर्थिक शक्ति और शारीरिक शक्ति दोनों ही गायके लिए कम व्यय करनी पडती है और भैंसके लिए अधिक। आर्थिक दृष्टिसे गाय भैंसके मुकाबलेमें हानिकर तो है ही नहीं अपितु लाभदायक ही है। गायके दूधमें भैंसकी अपेक्षा प्राय: घी की जो कमी पाई जाता है वह आर्थिक दृष्टिसे सबको खटकती है। यदि हम गोपालन पर ध्यान दें और उसके लिए भी भैंस जितना ही खर्च करनेको तैय्यार होजायें तो हम उत्तम जातिकी गौवोंका संरक्षण करके उनका उचित प्राप्य भोजन उन्हें देकर इस कमीको पूरा कर सकते हैं।

एक भैंसकी कीमतमें दो गाय आसकती हैं। एक भैंस एक कटिया या कटडा देगी जब कि गाय दो बछडा या दो बछिया देगी। एक वर्षकी अवस्थाके दो बछडे प्रति बछडा १०० रुपये २०० रुपयेके और भैंसका एक वर्षका कटडा अधिकसे अधिक २५ रुपये कीमतका होता है। प्राय: ४ वर्ष की आयुके दो बछडे बैल बनकर ५०० रुपये प्रति बैलके हिसाबसे १००० रुपयेकी कीमतके होजाते है और ४ वर्षकी आयुका कटडा हलमें चलने या बोझा ढोने योग्य होने पर अधिकसे अधिक २५० रुपयेकी कीमतका होता है। जैसे सब गौवोंके दूधमें घी समान न होकर न्यूनाधिक होता है इसी प्रकार सब भैंसोंके दूधमें भी घी समान नहीं होता। बहुतसी भैंसोंके दूधमें तो घी गायसे भी कम पाया जाता है। जैसे अधिक घी दूध लेनेके लिए उत्तम जातिकी भैंसके संरक्षणकी आवश्यकता पडती है, इसी प्रकार गाय भी उत्तम जाति की ही संरक्षण करने योग्य है। परन्तु उत्तम जातिकी गौओं के संरक्षणके लिए निम्न जातिकी गौओंको एकदम नष्ट कर देना कदापि उचित नहीं है। वे प्रकृतिके प्रबन्धसे स्वयं नष्ट प्राय:सी हो जाती हैं। प्राय: देखनेमें आरहा है कि समाजका और सरकारका ध्यान जबसे गोजातिके उत्थानकी ओर गया है तबसे गांव गांवमें अधिकतर अच्छी जातिकी गौएं ही पाली जा रही हैं।

कृत्रिम खाद और गोबर

आजकी अर्थ व्यवस्थाने कृषकोंके मस्तिष्कमें जमीनसे अधिक उपज लेनेका भूत सवार कर दिया है। जिसका अवश्यंभावी परिणाम प्राय: उपजका न्यूनतम होते जाना हो रहा है। अधिक उपजका लालच कृषकोंको सरकारी विभाग के द्वारा आविष्कृत और प्रोत्साहित कृत्रिम खादोंका आश्रय लेनेको विवश करता है, परन्तु आज प्रत्येक किसान इस बात का तीव्रतासे अनुभव कर रहा है कि ये कृत्रिम खाद उपज बढानेकी अपेक्षा उसकी कमी का ही कारण बनते जारहे हैं। जिस खेतमें आज कृत्रिम खाद डाल दिया जाता है वह इसी वर्ष अधिक उपज देकर जमीनकी अधिक शक्ति खींच कर उसे अगले वर्षके लिए साधारण उपजके भी अयोग्य बना देता है। परिणाम स्वरूप अगले वर्ष उपज लेनेके लिए उस खेतमें पहलेसे भी अधिक मात्रामें कृत्रिम खाद डालनेकी आवश्यकता पडती है। इस प्रकार धीरे धीरे ३-४ वर्षके मध्यमें ही किसानकी खून पसीनेकी महंगी कमाईको ग्रास करनेवाले अत्यधिक महंगी कृत्रिम खाद उसकी जीविकाके एक मात्र साधन जमीनको बिलकुल निकम्मा बना डालती है और शक्ति उपज न होनेके कारण किसानको भी आर्थिक दृष्टिसे ऐसा दशामें पहुंचा देते हैं कि फिर वह उस जमीनके सुधारके लिए अन्य उपाय अवलम्बन करनेके भी अयोग्य बन जाता है। इसके विपरीत किसानके घरकी स्वभाविक शोभा गौमाता तथा उसके बछडे बछियाओंके मल मूत्रसे अनायास ही बने हुए खादको उचित मात्रामें जमीनमें डालनेसे उसकी उपजाऊ शक्ति सदा बढती ही रहती है। एक खेतमें एक बारका डाला हुआ गोबरका खाद तीन वर्ष तक उस खेतकी उपजाऊ शक्तिको सुरक्षित रखता है। अब तो कृत्रिम खादोंके अनर्थकारी परिणामने किसानों को गोबरका खाद भी अधिकतर मात्रामें खेतोंमें डालनेके लिए विवश किया हुआ है। जिससे उसे अत्यधिक पैसा खर्च करके गोबरका खाद मोल लेना पड रहा है। परन्तु साधारण स्थितिमें गोबरका खाद यदि किसी किसानको मोल भी लेना पडता था तो वह साधारण मूल्य पर ही मिल जाता था।

कृत्रिम खादके उपयोग से जमीनकी उपज पानी अत्यधिक मांगती है। साधारणतया किसान सरकारी नहरों द्वारा होने वाली सिंचाईके प्रबध पर निर्भरशील है। क्योंकि इक्के दुक्के

किसानोंकी आर्थिक स्थिति ऐसी है जो सिचाईको लिए ट्यूबवेल लगाकर उसका सदुपयोग कर सकते हैं । जिनका ट्यूबवेल लग जाता है वे भी समयपर स्वाभाविक अर्थाभाव के कारण उसका सदुपयोग नहीं कर पाते । जो किसान सरकारी सिचाई प्रबन्ध पर आश्रित हैं उन्हें भी आवश्यकता होते ही पानी मिल जाना संभव नहीं है । प्रकृतिके प्रबंध से होनेवाली वर्षा द्वारा भी सिंचाई अनिश्चित रहती है। ऐसी दशामें कृत्रिम खादोंके प्रयोगसे खेतोंमें अनिवार्य रूप से जो खुश्की पैदा होती है वह समय पर पानी न मिलनेसे खेतकी फसलको सुखा कर किसानको हताश करके हाथ झाड कर बैठनेके लिए विवश करती है । इसके अतिरिक्त कृत्रिम खादोंके उपयोगसे जमीन सख्त और रूखी होकर रिहाल और बंजर जैसी बन जाती है । उसमें होनेवाला उपज नाना प्रकारके रोगोंका शिकार बन जाती है । इसके विपरीत गोबर का खाद खेतको तरी खुश्की दोनोंको सहन करनेमें समर्थ बनाता है और यदि कोई प्राकृतिक प्रकोप न हो तो किसानको कमसे कम उसका पारिश्रमिक तो दे ही देता है । इसके अतिरिक्त वह जमीनको सर्वगुणी नरम, भुरभुरी तथा सर्व प्रकारकी उपजके योग्य शक्तिसंपन्न बनाए रखता है ।

साधारणतया आजके भारतीय किसानके अनुभवके आधार पर कृत्रिम खाद उसकी जमीनके स्वास्थ्यको तो बिगाडता ही है साथ ही उसके अपने तथा उसके अभिन्न साथी पशुओं के स्वास्थ्यपर भी घातक प्रभाव डालता है । कृत्रिम खादोंसे अधिक उपज लेनेके वहमने किसानोंको यहांतक पथभ्रष्ट कर डाला है कि वे अपने खानपानकी उपजमें भी इसका उपयोग करने लगे है । पहले गन्नेकी पैदावारमें हीं कृत्रिम खाद डाले जाते थे । क्योंकि वे गन्नेके रस पर अपना विषैला प्रभाव सीधा नहीं डाल पाते थे । परन्तु आज तो लालचकी सीमाका कोई पार नहीं है । गेहुं, चना, मेथी, मटरा, मकी, संजी, कपास, ज्वार आदि अधिक क्या प्रतिदिन दोनों समय भोजनके काममें आने वाली प्रत्येक शाक सब्जी बिना कृत्रिम खादकी सहायतासे उत्पन्न नहीं की जाती. परिणाम स्वरूप मानवजाति तो नाना प्रकारके रोगोंका तथा अकाल मृत्युका अत्यधिक शिकार बनती ही जा रही है साथ ही पशुजाति भी इस आक्रमण से नहीं बच रही है । कृत्रिम खादसे उत्पन्न चारे आदिका सेवन करने से दूधारू : दूध देनेवाले : पशुओंकी शरीर शक्ति क्षीण होरही है और उनकी दूध देनेकी क्षमता कम होती जारही है । ऐसेही खेतीके अनिवार्य साधन बैल तथा भैंसोंकी शक्ति भी दिन प्रतिदिन न्यूनतम होरही है ।

खेतीके साधन बैल और ट्रैक्टर

कृषि प्रधानभारतमें बैलोंसे खेत जोतनेकी परंपरा प्राचीनतम है । बैलोंकी तुलनामें अन्य कोई पशु खेतोंके पूर्णांग साधनके रूपमें नहीं अपनाया जासकता क्योंकि बैल सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, वर्षा, आतप सब कुछ सहन करके भी कर्मक्षम बना रहनेमें समर्थ है । बैल जैसा धैर्यवान सहिष्णु पशु दूसरा नहीं है । मारपीट आदि सहन करके भी उसका बदला देनेका हिंस्र स्वभाव नहीं रखता है । भैंसा भी आजकल हमारी खेती के काम में बहुतायतसे आने लगा है । पर वह कुनह–कीना बाज पशु है । जिसके भी प्रति उसके दिमागमें एक बार शत्रुताका भाव आजाता है उसे वह कभी क्षमा नहीं करता- बैल ऐसी शत्रुतामूलक दुर्भावनासे अछूता शुद्ध प्रेमी प्राणी है क्योंकि वह प्रेममूर्ति जगद्धात्री गोमाताका सुयोग्य सुपुत्र है ।

भारतके गरीब किसान प्रायः छोटेछोटे मकानोंमें रहनेवाले हैं । जिनके पास एक या दो ही मकान होते हैं परिवार भी होता है । वे जाडोंमें अपने पशुओंको भी अपने साथ उन्हीं मकानों में बाधनेको विवश होते हैं । परन्तु यह उनके लिए कष्टदायक न होकर उन्हें आराम देने वाला ही होता है । पशुओंके गर्म श्वास से मकान में इतनी गर्मी हो जाती है कि किसानको रजाई ओढनेकी आवश्यकता नहीं रहती, साधारणसा विस्तर ही उसका जाडा रोकनेके लिए पर्याप्त होता है । सबसे अधिक लाभप्रद वस्तु तो उसके सहवाससे मानवकी स्वास्थ्य सुरक्षा है । अनुभव से यह भलीभांति प्रमाणित है कि मकानमें या खेतमें गोधन या बैल जितना भी मनुष्यके सान्निध्यमें रहता है उतना ही उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता है । बैलका गोबर पेशाब जहां भी खेतमें पड जाता है वहांकी फसल और जमीनको शक्ति देता है । बैलों और गौवोंको चारा पानी देने उन्हे खोलने बांधने चराने तथा खेत जोतने आदि कामोंमें किसानके घरके सभी सदस्योंको अनायास व्यायाम करनेको मिल जाता है जो स्वास्थ्यरक्षा के लिए अत्यावश्यक है ।

इसके विपरीत आजकलके नए प्रगतीशीलक समझे जाने वाले जमानेके खेतीके साधन ट्रैक्टरको लीजिए । ट्रैक्टर जैसे पशुको बांधनेके : खडा करनेके : लिए एक स्वतंत्र मकानकी

आवश्यकता अनिवार्य है। जिस मकानमें वह रहता है उसको बन्द करके कुछ देरके लिए किसी व्यक्ति को उसके साथ रहना असम्भव है। उसकी स्वास अर्थात् पेट्रोल आदि नाना प्रकारके तेलोंकी गन्ध मनुष्यके लिए तो हानिकर है ही। यदि वे तेल आदि खेतमें भी कहीं टपक जांय तो खेतको और उसकी फसलको बरबाद ही करके छोडते हैं। इसके विपरीत ट्रेक्टरके ड्रायवर साहब तो थोडे ही समयमें अपने जीवन के उत्साह स्वास्थ्यसे हाथ धो बैठते हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव प्राय: सभी ट्रेक्टर ड्रायवरोंको मिल रहा है।

ट्रेक्टर जैसे खर्चीले साधनसे खेती करना भारतके गरीब किसानोंकी शक्तिके बाहर हैं। भारतके साधारणतया किसानों की आयका औसत प्रत्येक अनुभवी विचारशील व्यक्ति लगा सकता है। जब कि हमारे कृषिप्रधान देशके कृषकोंकी आर्थिक स्थिति आज इतनी निर्बल है तो उसे अपने हाल पर ही क्यों नहीं रहने दिया जाता? क्यों उसे उंची उडानके लिए प्रलोभित करके सदाके लिए ऋणग्रस्त दुखिया बनने को विवश किया जा रहा है? कुछ इकले दुकले सेठ साहुकारों के बलबूतेपर भारतीय अर्थव्यवस्था नहीं उभर सकेगी। उसकी आधारशिला तो भारतका कृषकवर्ग ही है। उसे उसके दुनिया की असूलोंसे पथभ्रष्ट करके सर्वथा कंगाल बना देना बुद्धिमानी नहीं होगी।

हलकी खेती समाज शृंखला और सम्पन्नताकी रक्षक

हल लकडीका बना होता है। उसे गांवका बढई बना देता है। हलके अन्य सहायक साधन जो लोहेके बने होते है उन्हें लुहार बनाता है। यदि हल चलाने वाला स्वयं ही चतुर व्यक्ति है तो हल चलाते समय साधारण सी कमी आजाने पर वह स्वयं ही ठीक कर लेता है। यदि अधिक ही काम पड जाय तो बढईको खेत पर बुला लेता है। या उसके घर हल लेजाकर ठीक करा लेता है। इसी प्रकार लुहार भी अपने हिस्सेका काम रहट आदि ठीक करना हो तो, खेतपर जाकर ही कर देता है। इसके विपरीत ट्रेक्टरमें कोई खराबी आजाती है तो कम्पनी का मिस्त्री बुलाना पडता है। जबतक मिस्त्री नहीं आता तबतक काम बन्द पडा रहता है। यदि कोई पुर्जा टूट जाय तो तुरन्त दिल्ली भागो। इस प्रकार हलसे साधन शक्ति सामयिक शक्ति और शारीरिक शक्ति तीनोंके अपव्ययकी बचत होता है। वह लुहारको उनके कामके बदले में किसान अपने खेतकी पैदावारमेंसे हर महिने अन्न देता है। गुड देता है। और समय पर पर्याप्त चारा देता है। इस चारेके सहारेसे लुहार बढई दूधका एक पशु पाल लेते हैं और अपने बच्चोंको घी दूध खिला पिला सकते हैं। इस प्रकार किसानके जीवन व्यापारके साथी बढई लुहार नाई धोबी भंगी आदि सब एक दूसरेके साथ पारिवारिक बन्धन में स्वभावत: बंधे रहते है। ये सब एक दूसरेकी इज्जत आबरुके समान संरक्षक होते हैं। ट्रेक्टरकी खेती ग्रामोंकी इस बुनियादी सामाजिकता तथा स्वाभाविक ग्रामीण उद्योगोंको नष्ट करन वाली है जब कि भारतका विद्वत्समाज आज ग्रामीण उद्योगोंको पुनर्जीवित करनेके लिए चिंतित है। ग्रामोंका यह सामाजिक बन्धन पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति का संरक्षक है और अजीविकाकी कठिन समस्याका सरल समाधान करने वाला है।

प्राचीन भारतका प्रामाणिक इतिहास बता रहा है कि उस समय भारत श्रीसम्पन्नतामें संसारके सभी देशोंमें अग्रगण्य था। उसकी उस असाधारण ऐश्वर्यका आधारशालिता प्रधानत: कृषि ही थी और वह कृषि भी हल और बैलोंके सहारे ही होती थी। अभी अभी निकट अतीतकी ही बात है। ब्रिटिश सरकारके जमानेमें एकही मंडी से रेलीब्रदर्स और सान्डर्स आदि विदेशी कंपनियां एक ही दिनमें हजारों मन गेहूं खरीद कर विदेशोंको भेजती थी। कम्पनियों द्वारा गेहूंकी क्रयका यह काम स्थानस्थान परकी अनेक मंडियोंसे महीनों चलता था। इसके अतिरिक्त असंख्य खत्तियां भरी जाती थीं जिन्हें जाडोंमें खोला जाता था। उनका गेहूं भी फसलकी भांति कम्पनियों द्वारा खरीदा जाकर विदेशोंको जाता था। गेहूंकी यह पैदावार बैलोंसे ही होती थी। उस समय भारत की जनता पेट भर खा पीकर भी इतना गल्ला विदेशोंको दे देती थी। पर आज क्या है? आज भारत में प्रतिवर्ष करोड मन गल्ला जहाजोंके द्वारा विदेशों से आरहा है। विदेशोंको अन्नदान करने वाला भारत आज अपना भी पेट नहीं भर सक रहा है। वह भी जब जब कि प्रत्येक गांवमें खेतीके उन्नतिशील साधन ट्रेक्टरोंकी घुडदौड प्रतिद्वंद्विता कर रही है। कहा जाता है कि भारतकी जनसंख्या पहलेसे बहुत बढ गई है। इसीलिए अन्नकी कमी पड रही है। परंतु जहां जनसंख्या बढी है वहां खेती भी पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक जमीनोंमें

होने लगी है। भारतके मस्तिष्कको आज लकवा मार गया है। उसमें अपनापन नामकी वस्तुका सर्वथा अभाव होगया है। उसकी स्वतंत्र विचार शक्ति कुंठित होगई है। वह अपने आध्यात्मिक आदर्शको तो भुला ही बैठा है भौतिक उन्नति और नए नए अन्वेषणोंके लिए भी उसे विदेशोंका ही मुंह ताकना पड रहा है वह भी इस पैशाचिक यंत्रयुगमें यंत्रोंके पीछे ही दौड लगा रहा हैं। भारतकी इस दयनीय दशाके समय उसके उद्बुद्ध विचारशील समाजका यह महान् कर्तव्य है कि वह उसे पथभ्रष्ट होनेसे रोके। उसमें आत्मविश्वासकी सुदृढ भावना जागृत करे और उसका सन्मार्ग-प्रदर्शन करे।

भारतके कृषि धंधेका एकमात्र आधार गोमाता है। गोमाता कृषककी जीवनोपयोगी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति का सर्वांगपूर्ण साधन है। दूध घीके अतिरिक्त अन्न वस्त्रादि पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले बैलोंकी जननी भी गोमाता ही है। एक गोमाताको अपने घरकी शोभा बनाकर प्रत्येक किसान अपने जीवनव्यापी भौतिक सुखसुविधाओंसे निश्चित हो सकता है। इसके अतिरिक्त गोमाताके सम्पर्क : सत्संग : से मिलने वाले जगद्दुर्लभ आनंदका भी अनमोल लाभ किसान को अनायास मिल जाता है उसकी तुलनामें किसी भी ऐश्वर्यशाली महाभाग समझे हुए व्यक्तिकी सुख सम्पन्नता तुच्छातितुच्छ कोटिमें चली जाती है। गोरक्षा ही खेतीका प्राण है। और गोपालन ही गोरक्षा का एक मात्र राजमार्ग है। गोपालनमें ही समाजको या यूं कहिए राष्ट्रकी शान्ति निहित है। जब तक भारतकी राष्ट्रसेवा, स्पष्ट शब्दोंमें राजनीति, घर घर में पारिवारिक स्नेह-सूत्रसे गोपालनके व्यापक प्रचारमें केन्द्रिभूत नहीं होगी तब तक भारत अंधी विदेशी पथभ्रष्ट सभ्यताका अन्धानुगामी अन्वाही बना रहेगा आज भारतमें पाश्चात्य रीतिनीतिका अनुकरण-स्पृहा महामारीकी तरह फैल रही है। अनुकरण-स्पृहा ही दास मनोवृत्ति या परतंत्रता है। इस परतंत्रताके मोहफलको अपने स्वतंत्र विचारसे छिन्नभिन्न किए बिना भारत कभी भी सच्ची स्वतंत्रताका मुख-दर्शन नहीं कर सकेगा। गोमाताकी सेवा ही भारतीयसंस्कृति या भारतीयताकी आधारशिला है उसका प्राण है।

दैवत-संहिता

सम्पादक— म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर

वेदोंमें पूजक ऋषियोंकी अपेक्षा पूजनीय देवोंकी प्रधानता है। क्योंकि उपासककी अपेक्षा उपास्यकी मुख्यता सर्वत्र होती है। उपासक उपास्यके गुणोंको अपने अन्दर लाकर तद्वत् बनना चाहता है। वेदोंमें भी ऋषि उपासक हैं और देवता उपास्य। ऋषिगण अल्पगुणान्वित हैं और देवता सर्वगुणान्वित। ऋषिगण देवताओंके गुण अपने अन्दर धारण करना चाहते हैं और देवसदृश बनना चाहते हैं। इस प्रकार देवोंका स्थान मुख्य है।

ये देवता संस्थामें अनेक हैं, पर उनके मन्त्र चारों वेदोंमें बिखरे पडे हैं। अग्निके कुछ मन्त्र ऋग्वेदके १ मण्डलके १ सूक्तमें आए हैं, तो कुछ मन्त्र उसके २४ वें सूक्तमें आए हैं। इसी प्रकार इन्द्रादि देवोंके मन्त्रोंकी भी अवस्था है।

इस संहितामें देवताओंके अनुसार चारों वेदोंका मन्त्रसंग्रह है। इन्द्रके चारों वेदोंमें जितने मन्त्र आए हैं, उन सबका एक जगह संग्रह कर दिया है। इसी प्रकार अन्य देवोंका भी किया है। इससे वेदका अध्ययन करनेवालोंको बडी सुविधा होगी। उन्हें चारों वेदोंको खरीदनेकी कोई आवश्यकता नहीं। १७ पृष्ठोंमें उत्कृष्ट भूमिका युक्त आकर्षक छपाई, आकर्षक जिल्द। डबलक्राउन ८ पेजी साइज, भूमिका १७ पृष्ठ, १०४८ पृष्ठ मूल्य ३०) (डा. व्य. पृथक्)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो. 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी, [जि. बलसाड]

वैदिक रहस्य-विज्ञानका एक दृष्टिकोण

लेखक— ज्योतिषाचार्य श्रीयुत सूर्यनारायण व्यास

☆

वेद हमारा सबसे प्राचीनतम साहित्य है, यह बात आज सर्वसम्मत है। वेदके पश्चात् ब्राह्मण-ग्रंथोंका स्थान है। ब्राह्मण-ग्रंथ जाननेके वे ही अधिकारी हैं, जिन्होंने यज्ञादि विधानोंसे संहिता द्वारा परिचय प्राप्त किया हो। ब्राह्मणोंमें वैदिक साहित्यको शृंखलाबद्ध कर वैधानिक कृत्यों पर विवेचना की गई है। ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथोंके बाद क्रमशः उपनिषदोंका स्थान है, और फिर सूत्र-ग्रंथोंका। यह बतलाया जा चुका है कि ब्राह्मणोंमें उन विधियोंका विवरण है, जिनमें यज्ञके नियमोंका उल्लेख है। इसी प्रकार सूत्र-ग्रंथोंमें प्रयोगोंकी पद्धति है, और कर्मोंका स्पष्टीकरण एवं आशयाभिप्रायका विशदीकरण। और, जिनमें धार्मिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारोंका समावेश है, वे उपनिषद हैं।

आरंभिक कालमें बहुत समय तक हममें याज्ञिक कर्म-प्रवृत्ति रही, और उसके बाद ब्रह्मविषयक विवेचन आरंभ हुआ। इस विवेचनके ग्रंथका नाम आरण्यक है। अरण्यमें अध्ययनके कारण इसका नाम आरण्यक पडा ×। संहिताओंकी भिन्न-भिन्न शाखाओंके भिन्न-भिन्न ब्राह्मण भी हैं। वैदिक मंत्रों और योग-विधियोंका पारस्परिक संबंध है। एक दूसरेको समझनेके लिये इनके समवेत-ज्ञानकी परमावश्यकता रहती है। और, बिना ब्राह्मण-ग्रंथोंके जाने यह शक्य नहीं। प्रसंगवश, आवश्यकतावश अथवा उदाहरणार्थ इनमें कुछ कथाओंका भी समावेश हुआ है, तथापि साहित्यिक दृष्टिसे भी ये ग्रंथ अत्यंत महत्त्वके हैं। धर्मविधानसे संबंधित किसी भी भाषा के साहित्यकी अपेक्षा ये ग्रंथ पुरातन हैं और रचना-सौष्ठवकी दृष्टिसे अत्यंत श्रेष्ठ, अतएव विभिन्न धर्मोंके ऐतिहासिक अध्ययनके लिये ये बडे महत्त्वके एवं परमानंदप्रद हैं। भारतीय संस्कृतिकी महत्ताके जिज्ञासुओंके लिये तो इनका परिशीलन परमावश्यक है। किंतु वेद-विज्ञान तभी यथावत् हो सकता है, जब उसके अंगभूत ग्रंथों-ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्रोपनिषद्का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाय। इन ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें संहिताके प्रत्येक विषयका, अपने-अपने दृष्टिकोणसे, शृंखलाबद्ध विवेचन है। उसके जाने बिना उस विषयका मर्म-ज्ञान संभव नहीं। और, ब्राह्मण, आरण्यक सूत्र, उपनिषद्को जितना देखा जाय, उतना ही उस-उस विषय पर प्रकाश पडता जाता है-विषयकी महत्ता और अंतरग विदित होता है। आगे चलकर पुराणोंमें इन्हीं विषयोंका रूपकालंकारयुक्त वर्णन हो गया है, परंतु उसका मूल शृंखला बद्धरूपेण वैदिक प्राप्त होता है।

वेदोंके पश्चात् ब्राह्मण-ग्रंथोंमें अधिकतर पुरातन ब्राह्मण-ग्रंथ तैत्तिरीय माना जाता है। यह कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखाका गद्य-विभाग है। इसकी रचना बडी ओजपूर्ण एवं सुंदर है। तैत्तिरीय ब्राह्मण तीन विभागोंमें विस्तृत, स्वतंत्र ग्रंथ है। इसीका परिशिष्ट भाग तैत्तिरीय आरण्यक है। इसी ब्राह्मणके ७ से ९ तकके प्रकरणको तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है। ब्राह्मणसाहित्यसे हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं भौगोलिक अवस्थाका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

उदाहरणार्थ- ऐतरेय ब्राह्मणमें कुरु और पांचाल-देशका नाम आया है, तांड्य-ब्राह्मणमें सरस्वती दृषद्वतीके मध्यवर्ती स्थानोंका उल्लेख हुआ है, वैसे ही यजुर्वेदके ब्राह्मणोंमें कुरु, पांचाल, अयोध्या, विदेह तथा अवंतीका भी नाम आया है। यह हम पहले बतला चुके हैं कि ब्राह्मण-ग्रंथ याज्ञिक विधानके पुनीत रहस्यका ज्ञान देनेवाले हैं, अतएव उनका आध्यात्मिक

× अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमुदीर्यते— सायणः

होना जरूरी है। उनमें आया हुआ वर्णन आध्यात्मिकतासे रिक्त नहीं हो सकता। देश, नदी, स्थान, किसी भी विषयका वर्णन हो, उसमें आध्यात्मिक पुट जरूर रहेगा। इन ग्रंथोंमें साहित्यिक, सामाजिक, भौगोलिक वर्णन आया है, किन्तु वह भी आध्यात्मिक वादके अंतर्गत ही हुआ है। ब्राह्मणोंमें जगत्‌की संपूर्ण वस्तुओंका अथवा दूसरे शब्दोंमें समष्टिका व्यष्टिमें पूर्णतया समन्वय करके दिखलाया गया है। संसारकी कोई वस्तु नहीं, जो व्यष्टिमें घटित न हो सके। उदाहरणार्थ अग्नि, वायु, सूर्य आदिके प्रमाण उपस्थित किए गए हैं, और बतलाया गया है कि हममें और बाह्य जगत्-व्याप्त वस्तुओंमें भेद नहीं +। ऐसे ही साहित्यिक और भौगोलिक वर्णनोंमें अध्यात्मका पुट लगा हुआ है। उदाहरणार्थ यहां तैत्तिरीय ब्राह्मणका एक मंत्र उद्धृत करते हैं—

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य
वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः,
सा नो जुषाणोपयज्ञमागात्
अवन्तीदेवी सुहवा मे अस्तु।
(तैत्ति. ब्रा. २ का., प्रपा. ८, अ. ८)

वस्तुतः इस ब्राह्मण-मंत्रका अर्थ वाणीकी स्तुतिके रूपमें है। किसी देश-विशेषके वर्णनके लिये वेदमें स्थान भी क्यों हो? किंतु जहां अवंतीदेवीके रूपमें वाणीका बोध होता है, वहां अवंती-नगरीका भी सहज परिचय मिल जाता है। परंतु इसके लिये हमें, जैसा ऊपर बतला चुके हैं, ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र, उपनिषद् और पुराणका श्रृंखला-बद्ध परिचय आवश्यक है। अकेले मंत्रसे या 'नाम-साम्य' से निर्णय पर पहुंचना उचित न होगा, मंत्रमें अवंती-शब्दसे वाणीकी स्तुति है। इसी प्रकार—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोषः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः।
(कृ. यजु. तैत्ति. आरण्यक प्रपा, १. अनु. २७)

इस मंत्रमें अयोध्या-शब्द आया है। इसका अर्थ करते हुए भाष्यकारने-'अयोध्या' 'कर्मगतिमन्तरेण केनापि प्रहर्तुमशक्या' कहा है। दोनोंमें नगर-नाम स्पष्ट होते हुए भी उनका प्रतिपादन आध्यात्मिक है। एक प्रकारसे यह आध्यात्मिक भूगोल है। परंतु इसके समझने के लिये जरा और अंतस्में प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। हम ऊपर कह आए हैं कि समष्टिकी वस्तुजातका व्यष्टिमें समावेश किया गया है, तदनुसार पुराणोंमें भी तीर्थोंका शरीर हीमें अभिनिवेश सूचित किया गया है, और वे आध्यात्मिक तीर्थ-वर्णनके नामसे कहे जाते हैं। समस्त तीर्थोंका शरीरके विभिन्न अंगोंमें अधिष्ठान माना गया है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

"इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते।"

उपर्युक्त मंत्रको ही लीजिए। इसमें अवंतीवाणीकी स्तुति करते हुए बतलाया गया है—

'वेदानां माता' और अमृतस्य नाभिः।'

अर्थात् अमृतकी नाभि है, अर्थात् वाणीका स्थान शरीरमें नाभि-प्रदेश है। वाणी चार प्रकारकी है। जिसका नाम 'परा' वाणी है, वह मोक्षमार्गानुगामियोंकी साधनाका मूल है। उस वाणीद्वारा साधना सुलभ होती है, और इस वाणीका उत्पत्ति-स्थान नाभि-देश है।

तैत्तिरीयारण्यकके निम्नोल्लिखित मंत्र पर विचार करने से हमारा आशय अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

चत्वारि वाकपरिमितानि पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।

इसकी टीका करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

'येयं वाक्सा परिमितेयत्तया परिच्छिन्नानि चत्वारि पदानि, चतुरोऽवयवान्प्राप्य वर्तते, परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्येते चत्वारः पादाः। तानि चत्वार्यपि पदानि ये ब्राह्मणा मनीषिणः शास्त्रज्ञास्ते विदुर्नेतरे मूढाः, तत्र हेतुरुच्यते, त्रीणि परा पश्यन्ती मध्यमे त्वेतानि पदानि गुहायां शरीरमध्ये

+ 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो'
'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो'
'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः' इत्यादि।
(क) जाया भूमिः पतिर्व्योम मिथुनं ता अनुर्यभुः पुत्रो बृहस्पती रुद्रः सरमा इति-प्रपा० १, अनु० १०, मं० २।
(ख)-प्रपा० ३, अनु० ६, मं० १
(ग) प्रपा० ३, अनु० ४, मं० १
(घ) द्वितीयकांडे प्रपा० ६, अनु० ५

निहितानि स्थापितानि वर्तन्ते नेङ्गयन्ति न तु बहिः प्रसरन्ति वाचस्तुरीयं वैखरीयाख्यं पदं मनुष्याः सर्वे वदन्ति-उच्चारयन्ति ।'

अर्थात् परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी, ये वाणीके चार भेद हैं। उनमेंसे जो ब्रह्म-वेत्ता मनीषी लोग हैं, वे चारों ही को जानते हैं, और लोग इन सभीको नहीं जानते। तीन प्रथम भेदका स्थान 'गूढ' है। शरीरमें उन तीनोंका स्थान 'गुह्य' है। इनका प्रसार बाहर नहीं होता। चतुर्थ वाणी, जिसका नाम 'वैखरी' है, उसका सर्व-साधारण उपयोग करते ही हैं। ÷

इस संबंधमें शिक्षाकार भी कहते हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरं ।
प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ।
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टभानुगम् ॥
तारं तार्तीय सवनं शीर्षण्यं जगतानुगम् ।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः;
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ।
स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः;
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ।

जिस समय बोलनेकी इच्छा होती है, तब एक कालावच्छिन्न ही आत्मा-बुद्धिका सहयोग हो जाता है, और मन उसमें योग देता है, फिर मन 'कायाग्नि' को धक्का देता है, और उस आघातसे वायुको प्रेरणा होने लगती है। वायु हृदयमें संचार कर शनैः शनैः मंद स्वरकी सृष्टि करता है। इस प्रकार स्वर--संधान होता है। इतना कार्य तुरंत होकर 'वाणी'-प्रादुर्भाव होता है। उसके भी पांच प्रकार हैं। इन विभेदोंको-'गूढ-पाद-त्रयों' को-मनीषी लोग ही जानते हैं, 'नाभि'-स्थानकी रचना मणियोंकी तरह तंतु-निर्मित है +, और वहाँ वायुका आवास है, जो शरीरको

÷ विस्तार-सहित-वाणीकी चार वृत्तियोंका रूप इस प्रकार है—

(१) वैखरी-यह 'श्रोत्रसे ग्रहण हो' इस अर्थका वाचक स्थूल शब्द है। कंठादि स्थानोंसे आघात होनेपर वायु 'वर्ण' का आकार ग्रहण कर लेता है, अर्थात् साधारणतः यह शब्द प्राणकी वृत्तिको आश्रय कर प्रयुक्त होता है, इसलिये इसका उद्भव आकाश तथा वायु, दोनोंसे माना जाता है। यह भी 'परा' वाणीसे ही उत्पन्न होती है। स्पष्ट शब्दोच्चारका नाम 'वैखरी' है।

(२) मध्यमा- यह प्राणवृत्तिके अतीत श्रोत्रका अविषय तथा अंतः संकल्प-रूप अर्थात् चिंतनके रूपमें भीतर-ही-भीतर चलनेवाला है। परामर्श ज्ञान इसीका दूसरा नाम है। यह शुद्ध बुद्धि-परिणाम है, और-क्रम-विशिष्ट है, तथा स्थूल शब्दका कारण भी है।

(३)पश्यंती- इसका नामांतर अक्षरबिंदु है। यह स्वयं-प्रकाश वर्णोंके अविभागके कारण क्रम-हीन है।

(४) परा (अथवा सूक्ष्मा)- इसे कहीं-कहीं 'नाद, भी कहा गया है। यह अभिधेय बुद्धिका बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय है, और हर पुरुषमें भिन्न-भिन्न प्रकारका है। सुषुप्तिमें भी इसकी निवृत्ति नहीं होती। परावाक्के स्वरूपसे पुरुषके रूपका पृथक् साक्षात्कार करने पर ही पुरुषका भोगाधिकार निवृत्त होता है, और यही प्रमुख विवेक ज्ञान है। जबतक इसका उदय नहीं होता, तब तक शब्दानुविद्ध ज्ञानसे अतीत विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करनेका कोई उपाय नहीं होता।

द्वैत मतमें परावाक्का अतिक्रम करने पर मोक्ष प्राप्ति होती है, और अद्वैत मतमें परावाक् परमेश्वरकी स्वतंत्र शक्तिका ही नामांतर है, और वह चिद्रूपा है, पूर्णावस्था प्राप्त होने पर यह आत्मा अथवा परमेश्वरमें अभिन्न रूपसे रहती है।

परावाक् पश्यंती आदि क्रमसे उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमियोंको प्रकाश प्रदान करती है। वर्णोंसे ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिये तांत्रिकोंने इसे विश्वजननी मातृका-नामसे सूचित किया है।

और भी—

" आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला;
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ।"

इस परावाक्का अधिष्ठान 'मणिपूर-चक्र' अर्थात् 'नाभि-देश' है। —(गो० कविराज)

+ नाभि-स्थानका नाम 'षट्चक्र' में 'मणिपूर' (Solar-Plex) है। वाराह-पुराणमें-'मणिपूर' स्थानमें अवंतिकाका अधिष्ठान माना गया है। 'मणिपूरमवंतिका'। और, इसका नाम मणिपूर क्यों है, इस पर 'ध्यान-बिंदूपनिषद्' में लिखा है।

मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ ४८ ॥

वायु-पूरित करता है। अतएव इस चक्र द्वारा जिस वायुकी प्रेरणासे वाणीका जन्म होता है, वह परासंज्ञक वाणी होती है। इसीलिये प्रथम सूचित मंत्रमें वाणीको 'अमृतस्य नाभिः' की उपमा दी गई है।

पूर्वोक्त मंत्र + की व्याख्या करते हुए सायण भाष्य-कर्ता-का कथन है—

"येयं वाक् सैवाक्षरमविनश्वरं परमात्मस्वरूपं तत उत्पन्नत्वात्। सा चर्तस्य यज्ञस्य प्रथमजा प्रथममुत्पादयित्री, मंत्रैर्हि कर्माण्युत्पद्यन्ते, अतएवाऽऽथर्वणिका आमनन्ति-'तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्' इति, अमृतस्य नाभिरमृतत्वं हि देवत्वं, वाचि नह्यते-बध्यते, मंत्रपूर्वकानुष्ठानेन तत्प्राप्तिः, सा वाग्देवी, जुषाणा-प्रीतियुक्ता-सती, नोऽस्मदीयं यज्ञमुपागात्प्राप्नोतु, सा च देव्यवन्त्यस्मान् रक्षन्ती मे-मम सुहवा सुखेनाऽऽह्वातुं शक्याऽस्तु।"

अर्थात् वह वाणी, जो अविनश्वर परमात्म-स्वरूप है, यज्ञकी प्रथमोत्पादयित्री है, क्योंकि मंत्रों द्वारा ही कर्मकी उत्पत्ति होती है, ऐसा आथर्वणोंका मत है। वह 'अमृत-नाभि' यानी अमृतत्व (अर्थात् देवत्व) जिस वाणीसे संबद्ध हो जाता है, मंत्र-पूर्वक अनुष्ठानसे ही देवत्वकी प्राप्ति होती है, उस वाणीको यज्ञ कर्ममें सुखपूर्वक आमंत्रित करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो, यह प्रार्थना की है। अर्थात् आध्यात्मिक कर्ममें जिस 'परा' वाणीकी इस मंत्रमें प्रार्थना है, वही 'नाभि-स्थान' से उत्पन्न होती है।

'पूरिति शरीरमुच्यते' इस तैत्तिरीयकी सूचनासे शरीरको ही (भगवत्कथनानुसार- 'शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते') तीर्थोंके रूपमें विभाजित कर उसके विभिन्न अंगोंमें उन-उन स्थानोंकी सयुक्तिक योजना की है। 'अवंती'-शब्द 'नाभि-देश' में निहित है, शरीरका भी मध्यभाग नाभि-देश है, इसलिये भारतीय भौगोलिक दृष्टिसे भी वह 'मध्य' में आता है, अतएव यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि यह नाभि-देश 'अवंती' वर्तमान 'अवंतिका' ही है।

\+ "वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य
वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोप यज्ञमागात्
अवन्तीदेवी सुहवा मे अस्तु।"

\+

अब हम जरा इस योजनाको क्रमबद्ध रूपमें उपनिषद्के विशदीकरणसे मिलान कर देखें कि कहाँ तक ठीक है। याज्ञवल्क्यसे महर्षि अत्रिने प्रश्न किया कि यह जो अनंत, अव्यक्त, परिपूर्णानंद, चिदात्मा है, उसे कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्यने बतलाया, इसके जाननेके लिये 'अविमुक्त' की उपासना की जानी चाहिए। फिर प्रश्न किया कि यह अविमुक्त कहाँ, किस जगह प्रतिष्ठित है? तब याज्ञवल्क्य बहुत रहस्य-पूर्ण उत्तर देते हैं- 'वरणायां नास्यां च प्रतिष्ठितः' अर्थात् 'वरणा' और 'नासी' के बीचमें प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दोंमें यह स्पष्ट ही 'वाराणसी' (काशी) का उल्लेख है। इस पर फिर प्रश्न होता है कि यह 'वरणा' और 'नासि' कौन है? तब उक्त ऋषि व्याख्या करते हैं— 'जन्मांतर-कृत समस्त दोषोंका नाश करे, (वारयति इति 'वरणा') वह वरणा, और समस्त इंद्रिय-जनित पापोंका नाश करे, वह 'नासि'।' अब शरीरमें इसका स्थान बतलाते हुए एक प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि भौंहें और घ्राणकी जो संधि है, वह इसका स्थान है। इस संधि-संध्याकी उपासना ब्रह्मवेत्तागण करते हैं। यही 'अविमुक्त' की उपासना है, और यही 'अविमुक्त'-ज्ञान है। इसी उपनिषद्के वर्णनके अंतमें स्पष्ट शब्दोंमें ही कह दिया है- "श्रीरामस्य मनुः काश्यां जजाप वृषभध्वजः।" अतएव जिस 'वरणा' और 'नासि' की व्याख्या की थी, वह 'काशी' नगरी ही थी।

यह पूरा वर्णन मूल-रामोत्तर-तापिन्युपनिषद् (५८) के अनुसार इस प्रकार है—

"य एवं वेद स मुक्तो भवति इति याज्ञवल्क्यः अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्तपरिपूर्णानंदैकचिदात्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। सोऽविमुक्त उपास्योऽयम्। एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति, वरणायां नास्यां च प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा, का च नासीति। जन्मान्तरकृतान्सर्वान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवतीति, सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन 'नासी' भवतीति, कतमच्चास्य स्थानं भवतीति, भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिः स एव द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवति। एतद्वै सन्धिसन्ध्यं ब्रह्मविद् उपासदिति। सोऽविमुक्त उपास्य इति, सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे, यो वा एतदेवं वेद अथ तं प्रत्युवाच—

श्रीरामस्य मनुः काश्यां जजाप वृषभध्वजः ।"

'अवंती' की तरह ही 'वाराणसी' का भी यह वर्णन आध्यात्मिक रूपसे उपनिषद्‌में आया है। इसी प्रकार आत्म-तीर्थका आध्यात्मिक वर्णन करते हुए जाबालि-उपनिषद्‌का उद्धरण भी बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें अनेक तीर्थोंका स्पष्ट शरीर पर अभिनिवेश है—

श्रीपर्वतं शिरः स्थाने केदारं तु ललाटके;
वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥ ४८ ॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे;
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्;
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचविमार्गने ॥ ५० ॥
...आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम्;

सिर पर श्रीपर्वत, ललाट पर केदार, भौंहें, नासाके मध्य पर काशी, स्तनस्थान पर कुरुक्षेत्र और हृदय पर प्रयाग, इस प्रकार शरीर पर ही तीर्थोंकी स्थापना कर इसे आत्म-तीर्थ कहा है। इस प्रकार शरीर पर ही तीर्थोंका अधिष्ठान करनेवाली कल्पनाका पौराणिक वर्णन उद्धृत करते हैं, जो तैत्तिरीयारण्यक उपनिषद्‌के आधार पर ही निर्मित है, और उसका उल्लेख भी इस पौराणिक वर्णनमें है, इससे यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार एक दूसरेका सामंजस्य ही किसी वेदगत विषयके पूर्ण ज्ञानके लिये परमावश्यक है। मंत्रोंमें जो बात सूत्र-रूपमें प्रतिपादित है, उसकी व्याख्याएँ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि ग्रंथोंमें यथास्थान हुई हैं। पर वे व्याख्याएँ याज्ञिक विधानके रूपमें आध्यात्मिक आवरणमें ही आई हैं, क्योंकि यही उनका वर्णनीय दृष्टिकोण है। रूपकालंकार-रूपमें उन-उन तथ्योंका जरूर ग्रहण हुआ, जिनका उन रहस्योंमेंसे निकाल लेना विस्तृत अध्ययन तथा सूक्ष्मावलोकन पर ही निर्भर ह। वाराह-पुराणका नवम अध्याय अध्यात्मका समन्वयसूचक है। उसमें 'अध्यात्मतीर्थ-वर्णनाध्याय' शरीर पर ही तीर्थ-स्थानका कल्पक है। देखिए—

यानि तीर्थानि वाराहो जगाद धरणीं प्रति ।
तानि तीर्थानि देवर्षे तिष्ठन्ति नरविग्रहे ॥ ९ ॥
स्नानकाले सदा विद्वान् तानि तीर्थानि संस्मरेत् ।
ब्रह्मरन्ध्राद्धोऽयोध्या सहस्रारं तु तद्विदुः ॥ १० ॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोष इत्येषा तैत्तिरी श्रुतिः+॥ ११

उक्त श्लोकमें वराहने जिन तीर्थोंका पृथ्वी पर वर्णन किया है, वे सभी मानव-शरीरमें ही रहते हैं, यह बतलाया है। ब्रह्मरंध्रके नीचे, जिसे 'सहस्रार' भी कहते हैं, 'अयोध्या' का स्थान है, यह अष्टचक्र और नवद्वारवाली देवताओंकी नगरी अयोध्या है। इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे "इत्येषा तैत्तिरी श्रुतिः" की सूचनासे श्रुतिके तथोक्त मंत्रकी स्मृति दिलाई गई है। आगे चलकर और तीर्थोंका भी वर्णन इसी प्रकार है।

'मथुरा' को 'अनाहत-चक्र' कहा है, जो योगियोंका हृदय-स्थान है, और 'माया'-पुरीको मूलाधारस्थित बतलाया है †। 'काशी' को 'आज्ञा-चक्र' पर अधिष्ठित माना है। और, 'स्वाधिष्ठान'-चक्र पर 'कांची' तथा 'मणिपूर-चक्र' पर 'अवंतिका' का अधिष्ठान है *। यह

+ इस ग्यारहवें श्लोकमें स्पष्ट ही 'तैत्तिरीश्रुति' का उल्लेख किया गया है। यह वर्णन उसी श्रुतिका रूपांतर-मात्र है। केवल पौराणिक व्याख्यासे उसका विस्तार अवश्य किया गया है। वह श्रुति यह है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः। ५ ॥
(कृ० यजु०, तैत्तिरीयारण्यक-प्रपा० १, अनु० २७)

इसका मतलब यह है कि 'पू' यह शरीरका नाम है। देव-इंद्रादिका शरीर 'अष्टचक्रा' है, अर्थात् चक्र की तरह-जिनमें चर्म, स्नायु, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओजादिके रूपमें धातुएँ आवृत हैं, वह अष्टचक्रा, शिरोवर्ती ७ द्वारोंसे तथा अधोवर्ती दो द्वारोंसे युक्त ऐसी नवद्वारा-'अयोध्या' अर्थात् कर्म-गति आदि किसी प्रकार भी अप्रहार्य। उस पुरीमें हिरण्मयका कोष यानी सुवर्ण-निर्मित पदार्थ-सदृश अवकाश-रूप स्वर्ग-सुखमय लोक स्थान-विशेष है। इस व्याख्यामें-'तस्यां पुरीं'...और "स्वर्गसुखमयो लोकः स्थानविशेषः ज्योतिषा-जीवचैतन्याऽऽवृतः", ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। स्पष्ट 'अयोध्या' को 'पुरी', 'स्थान-विशेष' और 'जीवचैतन्यावृत' बतलाते हैं। पुराणका उपर्युक्त श्लोक तो इस 'श्रुति' का स्वल्पतम परिवर्तित रूप है। यह प्रकट है कि वैदिक श्रुतिकी नगर-सूचनाकी इस पुराण-श्लोकमें जरा स्पष्ट व्याख्या ही है।

मणिपूर-चक्र नाभिस्थानमें है+। यह कितना सुसंगत एवं शृंखला-बद्ध वर्णन है। जो बात मंत्र द्वारा सूत्र-रूपमें सूचित थी, वह आरण्यक-व्याख्यामें थोडी अधिक स्पष्ट हुई, और उपनिषद्में जरा और अधिक हुई, और पुराणमें तो उसकी शृंखला जोडते हुए इतनी अधिक स्पष्टता हो गई कि संदेहका अवसर नहीं रहता। वाराह-पुराणके इस (नवम) अध्यायके अंतमें इतना ज्यादा स्पष्टीकरण हो गया है कि आध्यात्मिकताका परदा भी इतना झीना हो गया है कि सारा भेद ही चित्रकी तरह असली स्वरूपमें सामने आ जाता है—

भ्रुवोर्मध्ये स्थिता काशी तदेवानंदकाननम्;
भ्रुवोर्घ्राणस्त्रयं संधिरित्येषा तैत्तिरी श्रुतिः ॥ २२॥

तथा—

कालंजरो ललाटे स्यात्साक्षात्शंभोर्निवेशनम्;
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः ॥ २४ ॥
नाभिदेशे तथा विद्वान् चिंत्यते मोक्षकांक्षिभिः २५

उक्त दो श्लोकोंमें श्रुतिके मंत्रका अनुवाद ही हो गया है, और मोक्ष-चिंतकोंके 'नाभि' -देशमें 'महाकाल' का अधिष्ठान है, यह तो बिलकुल ही स्पष्ट होगया। अब देखिए, मूल-मंत्रमें 'अवंती' शब्द वाणीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। वह 'वाणी' 'नाभि' से उत्पन्न होती है, क्योंकि उसे 'अमृतस्य नाभिः' कहा है। वहाँसे उस वाणी द्वारा मोक्षाकांक्षीगण' चिंतन करते हैं। वह षट्चक्रमें 'मणिपूर' है, यह उपनिषद् ने स्पष्ट किया। यह 'मणिपूर' नाभि-देश शरीर-मध्यमें 'तीर्थ 'के रूपमें स्थापित है, यह संगति क्रम-विकासके अनुसार ज्ञात होती है। इस संगतिके अनंतर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अवंती' का उल्लेख उस मंत्रमें देश-विशेष, स्थान-विशेषको लक्ष्य करके ही हुआ है। इसी प्रकार (प्रपा. १, अनुवाक २७) द्वितीय मंत्रमें जहां—"देवानां पूरयोध्या" कहकर अयोध्या-तीर्थका अर्थांतरमें प्रयोग किया गया है, उसकी व्याख्यामें तो स्पष्ट ही 'तस्यां पुरीं 'और 'सुखमयो लोकः-स्थानविशेषः' बतलाकर आशय सर्वथा असली रूपमें वर्णित कर दिया गया है। वैदिक यज्ञोंका रूप भी कुछ इसी प्रकारका है। वह 'हवन-कर्म' के रूपमें भी वर्णित है। पर 'ज्ञान-यज्ञ' के रूपमें तो उसी प्रकार वर्णित है, जैसे अवंती और अयोध्यादि स्थानोंके नाम। प्रपाठक ५, आ. १, विभाग १ में ऐसी ही एक श्रुति आई है—

"देवा वै सत्रमासत, ऋद्धि परिमितं यशस्कामाः। तेऽब्रुवन्, यन्नः प्रथमं यश ऋच्छात् सर्वेषां नस्तत्सहादिति तेषां कुरुक्षेत्रं वेदिरासित्, तस्मै खाण्डवो दक्षिणार्धं, आसीत्। तूघ्नंमुत्तरार्धः। परिणज्जघनार्धः। मख उत्करः। तेषां मखं वैष्णवं यश आर्च्छत्।"

पहले एक समय देवों ने यशकी कामनासे समस्त ऋद्धि-साधन-समृद्धि-समन्वित, पीढः सत्र (यज्ञ) का अनुष्ठान करनेका विचार किया, तब समय-कालके अनुरूप यह निश्चय किया कि यह यश व्यक्ति-विशेषको प्राप्त न हो, बल्कि सर्व-साधारणको इसका लाभ होना चाहिए। इस पर परस्पर चर्चा करनेके अनंतर कर्म-प्रवृत्तिके समय जो 'वेदी' (यज्ञ-वेदी) निश्चित हुई, वह 'कुरुक्षेत्र' ही 'वेदी' स्थान बना। इसके व्याख्याकार सायण ने कहा है—

"यत्कुरुक्षेत्रं पुराणप्रसिद्धं सैव 'वेदि' रासीत्।"

अर्थात् समग्र 'कुरुक्षेत्र' वेदी माना गया। इसी प्रकार वेदीके अनंतर अन्य स्थानोंमें यज्ञ-विशिष्ट भागोंकी स्थापना कल्पित हुई। इस तरह यज्ञ-विधान भी देश-स्थानों पर प्रस्थापित किया गया था। शरीर और स्थानों (तीर्थों) में जिस प्रकार याज्ञिक विधानोंका अधिष्ठान माना गया, उसका वास्तविक रूप जरा आध्यात्मिक भावनाके परदेको ऊपर उठाकर देखा जाय, तो मौलिक रूपमें प्राप्त हो जाता है। आगे चलकर 'शिक्षा' आदि ग्रंथोंमें 'वेद पुरुष' का जब वर्णन किया गया है, तो वहाँ भी वेदके अंतर्गत विषयों का-अंगोंका उक्त प्रकारसे ही हुआ है।

जैसे 'शब्द-शास्त्र' (व्याकरण), यह वेद-पुरुष का 'मुख' है। ज्योतिषशास्त्र वेद-पुरुषके नेत्र हैं। निरुक्तको वेदके 'कान' कहा है। कल्प हस्त है, और शिक्षा वेदकी नासिका है। दोनो चरण 'छंद' हैं ‡। इस तरह समग्र वेदांत

\+ मथुराऽनाहतं चक्रं हृदयो योगिनां विदुः।
मूलाधारं भवेन्माया सर्वाधारमयी यतः ॥ १२ ॥

† आज्ञाचक्रं स्मृता काशी याबालाश्रुतिमूर्धनि।
स्वाधिष्ठानं स्मृता कांची मणिपूरमवन्तिका ॥ १३ ॥
(वाराह-पुराण ९ अ०)

* मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः;
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
(योग-कुंडलिनी-उपनिषद्)

‡ शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी,
श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं तु कल्पः करौ;
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका
पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः। —शिक्षा

ही वेद-पुरुषके शरीरमें भिन्न-भिन्न अंगोंके ही स्थान पर है। ऐसे अनेक देशों, नगरों, नदियों, स्थानोंके वर्णन रूपांतर, अर्थांतर के रहस्यमय स्वरूपमें आध्यात्मिक भावनासे आवृत वेदादि-साहित्यमें यत्र-तत्र विस्तृत हैं, यदि हम एक-एक मंत्र-श्रुतिका यथाक्रम सभी दृष्टिकोणोंसे , सूत्र-बद्ध और क्रम-बद्ध तथा ब्राह्मण , आरण्यक , उपनिषद् , पुराणादि शृंखला-क्रमके अनुसार अनुसंधान , विचार करें ॰ सूक्ष्म निरीक्षण करें , तो अवश्य अनेक गूढतम रहस्योंका, जो अब भी अज्ञात हैं, परिचय प्राप्त कर सकेंगे । अभी तक हमारे पुरातत्त्वज्ञों का-संशोधकोंका यह मत है कि वेदोंमें उन्हीं स्थानों-जलाशयों आदिका वर्णन है, जिन्हें प्रथमतः आर्यों ने जाना है । भारतके विभिन्न स्थानोंका उस समय तक उन्हें पूरा परिचय नहीं था। वे यदि इस प्रकार प्रत्येक मंत्रोंका अंतर्गत रहस्य अवलोकन करें , तो 'अवंती,' 'अयोध्या ' की तरह अनेक स्थानोंका , अनेक विषयोंका वैदिक साहित्यमें व्यापक वर्णन प्राप्त हो सकेगा। और, यह भी विदित होता है कि वैदिक कालमें अवंती आदि देशोंका आर्योंको पूर्ण परिचय भी था ।

ऊपर जिस 'षट्चक्र 'का हमने उल्लेख किया है, वह योग-साधकों का जाना हुआ विषय है। ' षट्चक्र ' की शरीरमें कैसी स्थिति है, क्या रूप है, और कैसी उनकी आकृति-वर्ण आदि है, यह साथके चित्रसे स्पष्ट हो सकेगा। इस चित्रमें मानव-शरीरमें जिन तीर्थोंकी आध्यात्मिकरूपेण ' षट् चक्रों ' की यौगिक परिभाषाके शब्दोंमें (अभिनिवेश) प्रतिष्ठा हुई है, वे कौन-से स्थान हैं, यह भी स्पष्ट हो सकेगा। वे ' षट्चक्र ' ये हैं +—

१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूर, ४अनाहत, ५विशुद्ध और ६आज्ञाचक्र ×।

इनका शरीरमें इस प्रकार विभाजन हुआ है—

१	२	३	४
मूलाधार	स्वाधिष्ठान	मणिपूर	अनाहत
|	|	|	|
गुदा	लिंग	नाभि	हृदय

५	६
विशुद्ध	आज्ञा
|	|
कंठ	मस्तक ।

इन नामोंका शरीरके उस-उस विभागमें जो स्थान माना है, उनकी आंतरिक रचना सर्वथा वैज्ञानिक एवं शरीर-रचना भूगोलसे सुसंगत है । यह विषय स्वतंत्र है, यहाँ स्थान और अवसर नहीं कि उस पर प्रकाश डाला जा सके ।

अब इन ' षट्चक्र 'में जिन-जिन तीर्थोंका प्रतिष्ठान श्रुति , उपनिषद् तथा पुराण-सूचित है, वह इस प्रकार है-' सहस्त्रार ' पर अयोध्या , जो ब्रह्मरंध्रके नीचे है, और अष्टचक्रा-नवद्वारा है, तथा हिरण्मय कोषस्थ है। यह स्थान मस्तक पर है (सहस्त्रदल पद्म)

१	२	३	४
मथुरा	मायापुरी	काशी	कांची
|	|	|	|
अनाहत-चक्र पर है	मूलाधार	आज्ञा	स्वाधिष्ठान

५	६
अवंतिका	द्वारका
|	|
मणिपूर	विशुद्ध

इन स्थानोंको षट्चक्रोंसे योजित कर भारतके मानचित्रमें (वैदिककालीन) अवलोकन किया जाय , तो शरीरका भौगोलिक स्वरूप भी सुसंगत हो जाता है, और आध्यात्मिक आवरणमें जो भौगोलिक रहस्य विदित है, वही भी स्पष्ट हो जाता है। यह जानकर अधिक विस्मय होता है कि यह योजना कितनी वैज्ञानिक और गूढ अर्थ-पूर्ण है ।

+ षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमंडलम्;
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥ ९ ॥
अनाहतं विशुद्धं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्;
आधारं गुदमित्याहुः स्वाधिष्ठानं तु लिङ्गकम् ॥१०॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्;
विशुद्धिः कंठमूले च आज्ञाचक्रं तु मस्तकम् ॥ ११ ॥
(योग-कुंडलिनी-उपनिषद्)

× " इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु;
षट् स्थानेषु च षट् शक्ति षट् पद्मं योगिनो विदुः । "

चिकित्सा विज्ञान

क्या आपको कब्ज है ?

लेखक
श्री प्रेमशरण शर्मा

☆

आजकल कब्जकी शिकायत अस्सी प्रतिशत लोगोंको रहती है। पाखाना ठीक समय पर न आनेसे अथवा कम ज्यादा आनेसे मनुष्य सुस्तीका अनुभव करता है काम करनेकी इच्छा नहीं होती, शरीर भारी रहता है, मुंहका स्वाद फीकासा रहता है, दांतोंमें सफेद और गाढासा पदार्थ जमा रहता है। खाना खानेकी इच्छा कम होती है। जब यह अवस्था अधिक तीव्र होती है, तो सिर दर्द और बेचैनी रहने लगती है। शरीरमें अधिक मल एकत्र हो जाने पर अनेक प्रकारके विष उत्पन्न होने लगते हैं, जिससे कई बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

कब्जके आरम्भमें तो कोई तकलीफ महसूस नहीं होती। केवल इतना ही होता है कि कभी तो दिनमें कई बार पाखाना होता है, तो कभी पाखाना आता ही नहीं। इसके लिए नीचे कुछ उपचार किये जा रहे हैं:—

सर्वप्रथम हमें अपनी दिनचर्या ठीक रखनी चाहिये, जैसे समय पर भोजन करना, तथा समयपर शौच जाना। खाना अच्छी तरहसे चबा कर खाना चाहिये। जल्दी-जल्दी अथवा बारबार नहीं खाना चाहिये। कभी भी शौचके वेगको रोकना नहीं चाहिये।

सूर्योदयसे पूर्व उठकर कुछ दूर भ्रमणके लिए जाना चाहिये। इससे शरीरके अन्य अंगोंके साथ आंतोंको भी हरकत करनेका अवसर मिलता है और उन्हें अपना कार्य करनेमें आसानी हो जाती है। घूमने जानेसे पूर्व पेट भर कर जल पी लिया जाये, तो और भी अच्छा है।

प्रातःकाल तांबेके पात्रमें रात्रिका रखा हुआ जल पीना चाहिये।

भोजन ऐसे करें जिसमें शरीरके लिए आवश्यक तत्वोंकी कमी न हो। भोजनमें हरी तरकारियां तथा तरल पदार्थ अधिक होने चाहिए।

भोजन करते समय अधिक जल न पीएं। परंतु भोजनके दो घण्टे बाद कमसे कम डेढ सेर जल अवश्य पीना चाहियें।

जिनको अक्सर कब्ज रहती है, वे रातको सोनेसे पहले गरम दूधके साथ छह माशा ईसबगोलकी भूसीका सेवन करें। इससे पाखाना साफ आयेगा। ईसबगोलकी भूसी फूल कर मलकी मात्राको बढा देती है और चिकना करके बाहर निकाल देती है। इसके बार—बार प्रयोगसे न तो आदत ही पडती है और न ही आंतोंको किसी प्रकारका नुकसान पहुंचता है। जो लोग मेहनतका काम नहीं करते, उन्हें प्रातःकाल उठकर थोडा व्यायाम करना चाहिये। एक बाबूसे एक मजदूरका स्वास्थ्य कहीं अच्छा होता है। मजदूरके लिये आवश्यक नहीं कि उसे कौनसा खाना हल्का रहेगा और कौनसा भारी। चरकमें एक स्थान पर लिखा है कि हल्के और भारी भोजनका विचार उन्हींके लिये है जो कमजोर हैं अथवा जो परिश्रम नहीं करते, जो बीमार हैं अथवा आरामतलब हैं। लेकिन जिनकी जठराग्नि तेज है, जो मोटा-रूखा अन्न खाने वाले हैं और जो मेहनत करने वाले हैं, उनके लिये सुपाच्य और दुष्पाच्यका विचार अनावश्यक है।

मिट्टीका प्रयोग

कब्जमें मिट्टीका प्रयोग बहुत ही लाभदायक है। महात्मा गांधी ने एक स्थान पर कब्जमें साफ मिट्टी को ठण्डे पानी-में गूंथकर पेट पर रखनेकी सिफारिशकी है। वह बीचमें कपडा दिये बिना की गई है लेकिन मैंने तो महीन कपडेमें पुल्टिसकी तरह लपेट कर रातभर पेट पर रखी।

सवेरे उठा, तो हाजत मालूम हुई और संतोष जनक दस्त हुआ। मैं कह सकता हूं कि उस दिनके बाद आजतक शायद ही 'फ्रूट साल्ट' लिया हो।

मिट्टी बहुत साफ हो। वह अधिक चिकनी अथा रेतीली नहीं होनी चाहिये। अगर सूखी न मिले तो बारीक पीसकर छानकर तथा धूपमें सुखा कर रख लेनी चाहिये। यह मिट्टी जमीनको करीब डेढ फुट तक खोदकर निकालनी चाहिये। मिट्टीकी यह पट्टी तीन इंच लम्बी होनी चाहिये मोटाईमें बाजरेकी रोटीसे दूनी मोटी होनी चाहिये।

कब्जमें रोगीको रातको सोते समय बडो हरडका मुरब्बा लेना चाहिये।

जिसको प्रति दिन कब्ज रहता हो, वह हरडका चूर्ण चार माशा व गुड मिलाकर प्रतिदिन ले। पाखाना लानेके लिये हरडके छिलकेका चूर्ण छह माशे तथा उतनी सौंफका एक पाव पानीमें काढा बना लें। जब पानी एक एक छटांक रह जाये, तो उतार कर थोडा शहद या खाण्ड मिलाकर पी लें: विरेचनके लिये यह उत्तम योग है। यदि यह न हो सके, तो कुछ दिन हरडका चूर्ण चार माशा गरम दूधके साथ सोनेसे पूर्व लें।

जिन लोगोंको पाखाना सख्त बकरीकी मेंगनीकी तरह आता हो, उन्हें यह उपचार करना चाहियेः —

हरडका चूर्ण तीन माशा, नौसादर चार रत्ती और एक माशा कुटकी। इन सबका चूर्ण बनाकर प्रातः आंवलेके शीत कषाय से लें। कषाय बनानेकी विधि इस प्रकार है।

थोडा आंवलेका चूर्ण एक पाव पानीमें भीगो कर रातको रख दें। सुबह उसे अच्छी तरह मल कर और छानकर पीने योग्य बना लें।

जिनका मेदा बहुत अधिक खराब हो, वे अरंडीके तेलमें दस बूंद तारपीनका तेल मिला लें तथा उसे दूधमें मिलाकर पिएं। अरंडीका तेल करीब एक छटांक होना चाहिये।

निशोथका चूर्ण चार माशाकी मात्रामें लेनेसे भी पाखाना आ जाता है।

अगर पेटमें आफरा हो, कई दिनसे पाखाना न आया हो, तो करंज की छाल करंजका फल और करंजकी जड और बाम्बीकी मिट्टी तथा राई, इन सबको सम लेकर गायके मूत्रमें पीसकर तथा गरम करके पेट पर लेप करें।

जवाखार, हींग, चीता और अम्लवेत, इनको समान भाग लेकर चूर्ण करके रख लें। आवश्यकता पडने पर तीनसे छह माशे तककी मात्रामें प्रयोग करें। इसे गरम जलसे लेना चाहिए। पाखाना ठीक आयेगा।

साधारण तौर पर पाखाना न आने पर अरंडीका शुद्ध तेल एक छटांकको मात्रामें गरम दूधमें मिलाकर पीनेसे मल साफ हो जाता है।

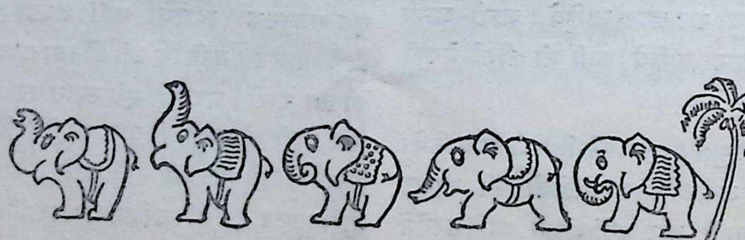

परंपरा और विकास

लेखिक— श्रीमाताजी, श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी

☆

" विश्वकी कार्य प्रणालीमें जो कुछ भी होता है वह उस सबका परिणाम होता है जो कि पहले घटित हो चुका है।"

(मातृवाणी)

इससे आपका क्या तात्पर्य है ?

विश्व एक सतत क्रिया है और यह सर्वोच्च चेतना की अभिव्यक्ति है। अतएव जो कुछ होता है वह उससे निर्धारित होता है जो उससे पहले हो चुका है। विश्व जो कुछ है वह वैसा इसलिये बना रहता है क्योंकि इससे पहले वह ऐसा ही था और जो कुछ वह रह चुका है वह इससे पहलेके रूपका परिणाम है। और जो अब वह होगा...वह उसके वर्तमान रूपका परिणाम होगा।

क्या विश्वकी यह अभिव्यक्ति सदा होती रहती है या यह कहीं समाप्त भी हो जाती है ? वह कौनसी वस्तु है जो हमें एक आरंभका, आरंभ करनेके एक निश्चयका आभास देती है ?

आरंभ करनेका निश्चय कहांसे आता है ?...सर्वोच्च सत्तासे शायद, क्या पता ! यह हो सकता है कि एक दिन उन्होंने वर्तमान ढंगके विश्वको बनानेका निश्चय किया और उन्होंने इसके लिये अपनेको मूर्तरूप देना शुरू किया।

विश्वका प्रत्येक तत्त्व सनातन है, क्योंकि स्वयं विश्व सनातन है। अतएव 'सनातन' में एक आरंभका होना कठिन है। यह स्पष्ट है कि यह सदासे रहा है और सदा रहेगा। केवल इतनी ही बात है, एक उदाहरण लो, एक वृत्तको लो जो अत्यधिक छोटी–छोटी पर अनगनित वस्तुओंसे भरा है। यदि तुम इन सब तत्त्वोंके संबंधको बदल दो तो इनकी संख्या ऐसी हो जाती है, संबंधोंकी संभावनाएं इतनी अधिक हो जाती हैं कि तुम बडी सरलतासे असीमकी धारणा बना सकते हो। यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोणसे यह असीम नहीं है किंतु वर्णनात्मक दृष्टिकोणसे यह असीम कहा जा सकता है। प्रत्येक तत्त्व सनातन है। सब संयोग असीम हैं, किंतु कोई एक संयोग दुबारा नहीं घटित होता। अतएव विश्व सतत रूपमें नवीन है, पर फिर भी सनातन दृष्टिसे वही–का–वही है।

परंपराओंके अनुसार यह कहा जाता है...

हां, हां, यह परंपराकी बात नहीं है। कुछ लोग 'प्रलय' की बात करते हैं, मैं यह जानती हूं, किंतु इसका अर्थ केवल यह है, कि ऐसा हो सकता है कि एक दिन भगवान् अपने बनाये विश्वसे ऊब जायं, असंतुष्ट हो जायं और वे एक नये विश्वका निर्माण करना चाहें। तब क्योंकि यह विश्व वे स्वयं ही हैं, वे सब कुछ अपने अंदर धारण कर लेते हैं और फिर दुबारा उसे बाहर प्रकट देते हैं। इसीको लोग प्रलय (विश्वका अंत) कहते हैं। किंतु यह बात किसी भी वस्तुको नहीं बदलती, विश्वके सभी तत्त्व स्थायी हैं और इनके संयोग भी सदा भिन्न होते रहेंगे।

विज्ञानके अनुसार तीन आयामोंवाला हमारा भौतिक जगत् असीम नहीं है ? यह तीन आयामोंसे अधिक आयामवाले स्थान पर अपने ऊपर झुका हुआ है। तीन आयामोंमें बंद यह विश्व लगातार विकसित हो रहा है और विश्वकी सब वस्तुएं एक दूसरेसे दूर हटती जारही हैं। जितनी अधिक उनकी परस्पर दूरी बढती जाती है उतनी अधिक उनके भागनेकी क्रिया भी अधिक द्रुत होती जाती है। यदि व्यक्ति भूतकालमें झांके, तो वह एक ऐसे कालमें पहुंच जाता है

जबकि विश्व एक ही विंदुपर घनीभूत सा था, और यह बात हमें जडपदार्थकी रचनाकी कुंजी प्रदान करती है जिसके इन तत्त्वोंकी अभीतक कोई व्याख्या नहीं कर सका है। यह " घनीभूत विंदु " या आदि अणु तीन या चार करोड वर्ष पुराना है। इसे ही भारतीय परंपरा " हिरण्मय अंड " कहती है। किंतु इससे पहलेका कुछ नहीं पता। अभी हालमें ही एक अमरीकन वैज्ञानिकने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया है कि असीम विस्तारकी यह क्रिया सदा ही नहीं रहेगी, बल्कि अब एक विपरीत क्रिया भी आरंभ होगी और फिर सब कुछ दुबारा मूल स्रोतमें समेट लिया जायगा।

यह एक प्रकार की वैश्व श्वास-प्रश्वास की क्रिया है।

यदि व्यक्ति सूर्यसे पृथ्वीकी ओर जाती हुई प्रकाशकी किरणके साथ-साथ चल सके तो यात्राका आरंभ और उसकी समाप्ति एक ही साथ होगी, क्योंकि यात्रीका अपना काल समाप्त हो गया होगा।

एक साथ ही कार्यके होनेकी चेतनाको अनुभव करनेके लिये प्रकाश एक बहुत स्थूल पदार्थ होता है। यह स्पष्ट है कि जब कोई आकारमेंसे निकलकर ' आकार ' और ' अनाकार ' के सीमास्थान पर पहुंचता है, तब सब कुछ समकालिक होता है, किंतु यह प्रकाशकी सघनतासे बडी दूर की वस्तु है। मुझे आश्चर्य होता है, किंतु मुझे संदेह है कि एक भौतिक वस्तु विश्वकी समकालिकताकी चेतनाको प्राप्त कर सकती है।

यह सच है कि एक स्थूल पदार्थ या सत्ता प्रकाशके वेगसे नहीं चल सकती, किंतु यदि ऐसा संभव हो तो। तब क्योंकि प्रकाशकी किरणोंकी संख्या व्यवहारतः अनंत है और पूरे भौतिक विश्व पर छा जाती है, व्यक्ति सब कुछ जान-बूझ सकता है।

किंतु यह विश्वकी समग्र और समकालिक चेतना नहीं होगी, बल्कि पृथ्वीकी भी नहीं। जो व्यक्ति अतिपार्थिव प्रकाश की, उच्चतर प्रकाशकी गति याद रखता है उसके लिये पार्थिव प्रकाश मंद प्रतीत होता है, क्योंकि वह अंधकारमय होता है। किंतु यह किसी उच्चतर वस्तु की अभिव्यक्ति तो होगा ही... मुझे पता नहीं। प्रकाश एक बडा अच्छा प्रतीक है, किंतु मैं इसे एक सर्वांगीण प्रतीक नहीं मानती। क्या प्रकाश विचारसे अधिक वेगवान् हैं ?... तुम विचारके साथ कोई ठोस प्रयोग नहीं कर सकते। ध्वनि एक बहुत ही धीमी वस्तु है, किंतु विचार प्रकाशसे भी कहीं अधिक द्रुत वस्तु है। विचार तात्कालिकताका वेदन प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, क्या तुम विचारको भौतिक शरीरमें देख सकते हो ? क्या तुम विचारको एक भौतिक गुणसे पृथक् रूपमें देख सकते हो ? अभी तुम्हें यह देखना है, है न। मैं तुम्हें बताती हूं यदि तुम अपने शरीरसे बाहर जाओ, प्राणिक जगत्से बाहर निकलो और मानसिक जगत्में प्रवेश करो तो शरीरगत विचारके लिये सभी संबंध पहले संबंधोंसे भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ शरीरकी तुलनामें विचार प्रकाशके समान ही एक आंतरात्मिक वस्तु प्रतीत होता है, बल्कि प्रकाशसे भी अधिक। किंतु जब भौतिक सत्ताके द्वारा तुम्हारे पास कुछ भी देखनेके लिये नहीं है और तुम स्वयं मनमें प्रवेश करते हो तब कुछ ऐसे संबंध होते हैं जिन्हें एक विशेष प्रकारके देश और कालके द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और जिनका अस्तित्व भौतिक चेतनाके लिये नहीं बल्कि मानसिक चेतनाके लिये होता है। यदि तुम चाहो तो इसे तुम अपने इस कथन की व्याख्या कह सकते हो कि समय वस्तुओंको बदल देता है। कारण, यह स्पष्ट है कि वैश्व रचनामें विकसनशील चेतनाका प्रवेश हो गया है जिसे मनोवैज्ञानिक रूपमें नये जगतों या नय " आयामों " के साथ संबंध कह सकते हैं।

उदाहरणार्थ : यह कहा जाता है कि एक विशेष समयके लिये पार्थिव जगत् पर अधिमानसिक शक्तियोंका शासन था और कि इस नियमका भी अतिक्रम हो जायगा और यह शासन पीछे छूट जायगा। और तब अतिमानसिक शक्तियोंका इस पर राज्य होगा। ऐसे प्रत्येक समय जब नयी शक्तियां पृथ्वी पर उतरेंगी, एक परिवर्तन उत्पन्न होगा और चेतनाके परिवर्तनके साथ-साथ क्रियामें भी अनुरूप परिवर्तन आ जायगा। तुम कहते हो कि विस्तारकी क्रिया अधिकाधिक द्रुत हो रही है, इसका अर्थ है कि संसार एक ऐसी चेतनासे ओतप्रोत है जो उसकी क्रियाओंको अधिकाधिक वेग प्रदान कर रही है। यह बिलकुल ही एक आध्यात्मिक तथ्यका स्थूल अनुवाद होगा। पृथ्वी पर उच्चतर क्षेत्रोंसे अधिकाधिक शक्तियां अवतरित हो रही हैं जो अधिकाधिक वेग प्रदान करती हैं और यही हमें अधिकाधिक तात्कालिकताका आभास देता है। जिस वस्तु की खोज हो चुकी है वह इस तथ्यका एक प्रकारका भौतिक प्रतीक है जो

वैज्ञानिक रूपसे यह सिद्ध करेगा कि विश्व प्रगति कर रहा है।

दूसरी संभावना यह है कि यह एक स्पंदनात्मक क्रियासे संबंध रखता है जो एक श्वास और प्रश्वास जैसी क्रिया है यह सर्वथा संभव है, किंतु एकाग्रताके तथ्यका अर्थ आवश्यक रूपसे पीछे हटना नहीं है, यह एक क्रियासे दूसरी क्रियामें प्रवेश करना है।

नक्षत्र एक दूसरेसे इतने वेगपूर्वक दूर हट रहे हैं कि उनकी परस्पर की दूरी बढनेके साथ-साथ उनका वेग भी बढता जाता है...इसका क्या अर्थ है।

ये तो रूपकमात्र हैं न! तुम एक ऐसे विश्वके बारेमें सोच सकते हो जो अधिकाधिक बडा होता जा रहा है, किंतु तब यह विश्व किसके अंदर समायेगा? विश्वके परे तब क्या होगा?...हमारा क्षुद्र मानवमन किसी भी वस्तुको खाली मानने लगता है और यह भी कि इस खालीपनमें विश्व अधिकाधिक स्थान घेरता जा रहा है, यह एक मूर्खता-पूर्ण बात है। वस्तुतः कहना यह चाहिये: "यह ऐसा है" कारण, यह सत्य ही वैसी बात नहीं है जैसी कि होती है। यह केवल अपने-आपको व्यक्त करनेका एक ढंग है। थोडी सच्ची धारणा बनानेके लिये, व्यक्तिकी एक स्थूल व्याख्यासे मनोवैज्ञानिक व्याख्या की ओर जाना होगा। मनोवैज्ञानिक पहुंच कर भी तुम सत्यसे अभी बहुत दूर हो, जो न देशगत है न मनोवैज्ञानिक। वह कुछ और वस्तु है जिसे स्पष्ट ही हमारे शब्दोंमें अपने-आपको व्यक्त करना कठिन होता है। यह एक प्रसिद्ध अनुभूति है, ऐसे प्रत्येक समय तुम हमारी चेतनासे (मैं इसे देशगत चेतना नहीं कह सकती), हमारी पार्थिव चेतनासे (बिलकुल पार्थिव भी नहीं बल्कि वैयक्तिक चेतनासे) परे की चेतनामें प्रवेश करते हो, तुम्हें एक ऐसी अनुभूति होती है जो व्यक्तिगत चेतनासे आगे चली जाती है, दूसरे शब्दोंमें जो व्यक्ति की चेतनासे आगे जाकर समष्टि की चेतनामें प्रवेश करती है; तुम इस अनुभूतिको अनूदित करना चाहते हो तो तुम्हें ऐसा लगता है कि समस्त शब्द अर्थशून्य हो गये हैं। कारण, भाषाकी रचना केवल मानव अनुभूतिको मानव मनके लिये अनूदित करनेको हुई है। हमारे पास सब आवश्यक शब्द हैं, मानवी अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिये सूक्ष्मभाव प्रदर्शित करनेवाले सुंदर शब्द भी काफी हैं, क्योंकि भाषाकी रचना ही इसीलिये हुई है, किंतु जो भाषासे परे की वस्तु है उसकी व्याख्या करनेके लिये तुम कौनसी भाषाका प्रयोग करोगे? यह अत्यंत कठिन है। तभी तुम कहते हो, "यह ऐसा है, वह वैसा है," और जब तुम बोलते हो तभी तुम्हें पता लगता है कि तुम अनुभूतिको इतने विकृत रूपमें, वस्तुतः पूर्णतया विकृतरूपमें प्रस्तुत कर रहे हो कि उसका एक बिलकुल उलटा रूप सामने आ जाता है।

इसी कारण विज्ञान विरोधाभासोंसे भरा पडा है।

हां, और दूसरे लोकके अनुभवोंसे संबंधित सभी आध्यात्मिक पुस्तकें भी सदा विरोधाभासोंसे भरी रहती हैं। वे कहती हैं, यह ऐसा है, यह वैसा है और यह तुम्हें नमनीयता प्रदान करनेका एक प्रयत्न है जिससे कि तुम कोई स्पष्ट विचार बना सको-पर स्पष्ट विचार फिर भी नहीं बनता। सत्य यह है कि ये अनुभूतियां केवल नीरवतामें ही प्राप्तकी जा सकती हैं। तोभी हमें यह बताया गया है (और यह सत्य है) कि ये जगत् अतिमानसिक जगत्की भांति अपने-आपको भौतिक रूपमें व्यक्त करेंगे। तब क्या होगा? क्या उन्हें नये शब्द प्राप्त होंगे? उन्हें नये शब्द ढूंढने होंगे...यह कठिन है, कारण यदि नये शब्द मिल गये, तो उनकी व्याख्या करनी पडेगी।

वस्तुतः, प्राचीन दीक्षा देनेकी पद्धतियां ठीक थीं, इस अर्थमें कि ये केवल उन लोगोंके ज्ञानकी झांकी देती थीं जो एक ऐसी अवस्था पर पहुंच गये थे जहां वे उन्हें बिना शब्दोंकी सहायताके ग्रहण कर सकते थे। और मुझे भय है कि यहां भी वही बात होगी-शायद उसे भी जिसे यह अतिमानसिक ज्ञान प्राप्त है, अपने आपको लोगोंको समझानेमें कभी सफलता प्राप्त नहीं होगी, जबतक कि वे लोग स्वयं ही इस ज्ञानको हृदयंगम करनेमें समर्थ न होंगे। अतएव इसका युक्तिसंगत परिणाम यह है कि लोग कहेंगे, जैसा कि मैंने किसीको कहते सुना भी है: "ओह, यह सब तो सामन्य जीवनमें होता ही है।" कारण, ठीक वह सब जो सामान्य जीवनका नहीं होता पूर्णतया हमारी दृष्टिसे छूट जाता है, यह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

यहां की तरहके एक स्थानको लो, जोकि किन्हीं विशेष शक्तियों और स्पंदनों द्वारा आविष्ट हो, ये स्पंदन दृश्य और गोचर वस्तुओं द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकते-ये परिवर्तन ला सकते हैं, किंतु क्योंकि ये परिवर्तन किसी एक प्रणाली द्वारा (सभी भौतिक वस्तुओंके समान)

+

घटित होते हैं, तुम प्राय: युक्तिसंगत ढंगसे एक अवस्थासे दूसरी अवस्था तक जाते हो और यह युक्ति तुम्हें यह देखनेसे रोकती है कि यह कोई ऐसी वस्तु है जो सामान्य जीवनकी वस्तु नहीं है । अतएव , जिन लोगोंके पास सामान्य मनकी दृष्टिके अतिरिक्त और कोई अन्य दृष्टि नहीं है, जो वस्तुओंको वैसा ही घटित होता देखते हैं जैसाकि वे सामान्यतया घटित होती हैं, या घटित होती प्रतीत होती हैं, वे तुम्हें कहेंगे, " ओह, वह, वहतो एक बहुत सामान्य बात है । " यदि उनके पास विशुद्ध भौतिक दृष्टिके सिवाय और कोई दृष्टि नहीं है, यदि वे किसी स्पदनके गुणको अनुभव करनेकी सामर्थ्य नहीं रखते (कुछ लोग बडे अस्पष्ट ढंगसे इसे अनुभव करते हैं) किंतु जो लोग इसे अनुभव करनेमें समर्थ नहीं हैं, जिनके अंदर इसके साथकी कोई भी वस्तु नहीं है और यदि है तो वह जागृत नहीं है, वे यहांके जीवनको देखकर तुमसे कहेंगे, " यह भी भौतिक जीवनके ही समान है–तुम्हारे शायद कुछ अपने विचार हैं, किंतु ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनके अपने विचार होते हैं, तुम शायद यह सब एक विशेष ढंगसे करते हो, किंतु ऐसे कई लोग हैं जो अपने कार्य विशेष ढंगसे करते हैं । अंतमें यह भी वैसा ही जीवन है जैसा कि मैं बिताता हू "... और तब ऐसा हो सकता है कि किसी विशेष समय अतिमानसिक सत्ता अभिव्यक्त हो जाती है, वह यहां चेतन रूपमें उपस्थित है, वह जड पदार्थ पर कार्य कर र ही है, किंतु जो लोग चेतन रूपमें इसके स्पंदनमें भाग नहीं लेते वे इसे देख सकनेमें असमर्थ हैं । जो लोग यह कहते हैं, "जब अतिमानसिक शक्ति अभिव्यक्त होगी, हम भली प्रकार जान लेंगे, वह दिखायी दी जायगी"–यह कोई आवश्यक नहीं है । वे इसे उन लोगोंसे अधिक अनुभव नहीं करेंगें जो जरा भी संवेदनशील नही हैं, जो यहां आ सकते है, यहां निवास कर सकते हैं पर जरा भी अनुभव नहीं करते कि यहाँ का वायुमंडल दूसरे स्थानोंके वायुमंडलसे भिन्न है तुममेंसे कौन इसे इतने यथार्थ रूपमें अनुभव करता है कि वह इसकी पुष्टि कर सके ? तुम अपने हृदय या मनमें इसे अनुभव कर सकते हो, जो कि वही बात नहीं है, पर यह काफी अस्पष्ट है । किंतु इस यथार्थ बोधको प्राप्त करना । उदाहरणार्थ, जो मैंने जापानसे आनेके बाद प्राप्त किया था: मैं जहाजमें यहांसे बहुत दूर थी, मैं किसी वस्तुकी आशा नहीं कर रही थी (मैं स्वभावतया ही आंतरिक जीवनमें व्यस्त थी, किंतु भौतिक रूपमें मैं जहाज पर उपस्थित थी) जब कि अचानक ही पॉडिचेरीसे दो समुद्री मीलकी दूरी पर हवाका गुण, मैं इसे वायुमंडलका गुण भी कह सकती हूं, इतना बदल गया कि मैं यह जान पाई कि हम श्रीअरविन्दके प्रभामंडलमें प्रवेश कर रहे हैं । यह एक भौतिक अनुभूति थी और मैं इस बातको विश्वासपूर्वक कह सकती हूं कि कोई व्यक्ति जिसकी चेतना काफी जाग्रत है ऐसा अनुभव कर सकता है ।

इससे विपरीत अनुभव भी मुझे हुआ है । पहली बार जब मैं वर्षों बाद यहां कारमें बैठकर बाहर निकली और यहांकी झीलसे जरा आगे गयी, मैंने अनुभव किया कि अचानक ही वायुमंडल बदल गया है जहां कि पहले परिपूर्णता, शक्ति, प्रकाश और बल था वहां अब वह सब कम हो रहा है, हां, कम हो रहा है, और फिर कुछ भी नहीं रहा । मैं तब प्राणिक या मानसिक चेतनामें नहीं थी, मैं पूर्णतया भौतिक चेतनामें थी । जो लोग अपनी भौतिक चेतनामें संवेदनशील होते हैं वे इसे पूर्णतया मूर्तरूपमें अनुभव कर लेते हैं । और मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि जिसे हम ' आश्रम ' कहते हैं उसमें शक्ति घनीभूत रूपमें विद्यमान है जो किसी नगरकी शक्तिके समान नहीं है, और गांवकी शक्तिके समान तो और भी कम ।

मैं तुमसे पूछती हूं कि तुममेंसे कौन सचमुच प्रकारकी घनीभूत शक्तिके प्रति (जो तुम्हें एक विशेष प्रकारकी चेतनाका स्पंदन प्रदान करती है) सचमुच चेतन है ?... मैं जानती हूं कि तुममेंसे बहुतसे इसे अस्पष्ट रूपमें अनुभव करते हैं, उन्हें एक आभास मिलता है, वे इसके विषयमें बातचीत करते हैं, किंतु यथार्थ चेतना, वैज्ञानिक चेतना जो तुम्हें पूरी मात्रा दे सके किसके पास है ? मैं किसीकी ओर संकेत नहीं करती, प्रत्येक अपने अंदर झांककर देखे । और यह, यहां शक्तिकी यह एकाग्रता अतिमानसिक शक्तिका केवल एक दूरस्थ प्रतिबिंब है । अतएव, जब यह अति मानसिक शक्ति यहां निश्चित रूपमें स्थापित हो जायगी तो व्यक्ति यह देखनेके लिये कि वह यहां उपस्थित है कितना समय लेगा ! और यह सब कुछ को बदल देता है, क्या तुम्हें समझमें आया ? और जब मैं कहती हूं कि मन निर्णय नहीं दे सकता तो मैं ऐसे तथ्योंको ही आधार मानकर कहती हूं– मन ज्ञानका मंत्र नहीं है, वह नहीं जान सकता । एक वैज्ञानिक तुम्हें वायुमें उपस्थित विभिन्न तत्त्वोंकी मात्रा बता सकता है, वह उसका विश्लेषण करता है । किंतु इस दूसरी मात्राको कौन बता सकता है ? हां, कौन बता सकता है ? इसमें ऐसा स्पंदन है, इसकी ऐसी मात्रा, उसकी ऐसी मात्रा, अतिमान-सिक की ऐसी मात्रा ? ... मैं यह तुमसे पूछती हूं जिससे कि तुम इस पर विचार कर सको ।

विचारोंका अधिष्ठान

लेखक— श्री भगवानराव आर्य भोसीकर

प्रत्येक व्यक्ति विचार करता है। वह दूसरोंके साथ विचारोंका आदानप्रदान भी करता है। कभी कभी इनका स्वीकार होता है तो कभी कभी इनका तिरस्कार भी किया जाता है। जब विचार मेल खाते हैं या उसमें कुछ वृद्धि होती है तो स्वीकारोक्तिका प्रकाश किया जाता है। पर जब मेल नहीं खाते तो तिरस्कृत होते हैं। तत्वबोध होनेके स्थान पर वितण्डवाद चलता है।

विचार वैचित्र्य हमें पग पग पर दिखाई देगा। जैसा जिस व्यक्तिका दृष्टिकोण बना है वह उसी ढंगसे सोचेगा समझेगा और विचार प्रकट करेगा। प्रत्येक व्यक्तिका दृष्टिकोण भिन्न है। बलात् यदि विचार स्वीकृत होभी जायें तोभी वे टिक नहीं सकते क्योंकि विचारोंका मूलाधार भिन्न है। अतः दृष्टिकोणकी स्वीकृति दृष्टिकोणका बनना नहीं कहलायी जासकती। विचारोंको अस्थायी स्वीकृति दृष्टिकोणके मूलाधारको, जो स्थायी और दृढ हैं, नहीं बदल सकती। कालान्तरमें इन विचारोंका उन्मूलन दृष्टिकोणका स्थायी आधार कर देता है। इस प्रकार विचारोंकी भिन्नता फिर भी स्थिर रहती है। यही है भिन्नता जो हमें पग पग पर दिखायी देती है।

स्वतंत्रता प्राप्तिसे पहले हम अहिंसा और सत्य की बातें किया करते थे। प्रत्येक विचार इन्हीं दो तत्वों पर नपा तुला रहता था। इन तत्वोंको हानि न पहुंचाने वाली योजनायें, साधन, कार्य प्रणाली हाथमें ली जाती थी। हमारे विचारोंकी बैठक एक मोड पर आरही थी। भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न मार्ग अपनाने पर भी सुसूत्रता रहती थी। विचारोंमें समानता और एकता दृग्गोचर होती थी। पर कालचक्र घूम गया। विचारोंमें समानता तो दूर एक ही व्यक्तिके विचार, बोल (बातें) और आचार एक दूसरेसे अनेक किलोमीटर दूर हो-गये। होना था कुछ और हो गया कुछ और ही। इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं। वे विषयों पर दौडती हैं। विषयोंके उपभोगके निमित्त इन्द्रियां अतृप्त ही रहती गयीं। भोग और विलास की सामग्री इकट्ठी करने कितनी देर। इसका विकास होता गया। क्रियाकलाप की आवश्यकतानुसार सामग्रीका विकास होना था। पर अतृप्त और स्वैर इन्द्रियोंपर लगाम कहां ? इस पर फिर विचार, बोल और आचारमें अन्तर की छूट। विषय सेवनके अतिरिक्त और किसमें रुचि प्रतीत होगी। विचार भी वैषयिक भावनाओंसे ओतप्रोत होने लगे। न्यूनकष्टमें विषयतृप्ति हो और इससे सम्बन्धित विचार और साधन जुटाये जायें यह बात दृढमूल होती गयो। जिम्मेदारी, उत्तरदायोत्व, कर्तव्यका निभाना आदि जाले हैं।

ऐसे विचारोंके साथ सन्मुख आया व्यक्ति निजी विचारोंमें अनावश्यक हस्तक्षेप करता है। आनन्द, सुखमें बाधा डालता है। अप्रगत, पुराने विचारोंको ले फिरता है। इसे हमसे क्या सम्बंध, इसे हमसे क्या करना है आदि पृथक् वादी, सीमित, असंस्कृत और अज्ञानमूलक बातें दृढ होती गयीं। परिणाम जो होना था सो आज विद्यमान है। भ्रष्टाचार, अनात्मीयता, धोखा, अनुशासनहीनता, अराष्ट्रीयत्व, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार, अन्याय, पक्षपात आदिको कैसे रोका जाये यह समस्या है। समाधान मिलेगा या नहीं यह स्वयम् अब समस्या है पर इतना अवश्य सही कि विकासके नाम पर भोगविलास की सामग्री यद्यपि ऐसे विचारोंके व्यवहारमें लानेसे होती है तथापि उसमें पावित्र्य, मनकी प्रसन्नता और शान्ति कहां ? उन्नतिकी ओर ले जानेवाला विकास विकास है और अवनति की ओर ले जानेवाला विकास विकास नहीं

भोगविलास है जिसका परिणाम मुरझाना है यह यहां ध्यानमें रखने जैसी बात है।

आज जो विचारोंकी भिन्नता दिखायी देती है उसे यदि इकट्ठी कर उसका विश्लेषण किया जाये तो इसके चार मूलाधार स्पष्ट दिखायी देंगे। अर्थात् पग पग पर दिखायी देनेवाले विचारोंके चार मूलाधार हैं। वे हैं धर्माधिष्ठित, अर्थाधिष्ठित, कामाधिष्ठित और मोक्षाधिष्ठित। स्वतंत्रता प्राप्तिसे पहले जो सत्य और अहिंसा की बातें चलती थीं वे धर्माधिष्ठित होती थीं। आज जो धर्मविरहित बातें चलती हैं वे या तो अर्थाधिष्ठित या कामाधिष्ठित होती हैं। धर्माधिष्ठित विचार एकात्मता और उन्नतिका प्रादुर्भाव करते हैं तो कोरे अर्थ और कामाधिष्ठित विचार पृथक्ता और अवनतिको अवसर देते हैं। धर्माधिष्ठित विचार व्यक्ति की शारीरिक व आत्मिक उन्नति करते हैं और परिवार व समाजको परिष्कृत, संगठित करते हैं तो कोरे अर्थ और कामाधिष्ठित विचार व्यक्ति की शारीरिक व आत्मिक अवनति करते हैं और परिवार व समाजको अमंगल, अभद्र और विघटित करते हैं। संक्षेपमें यह कि अनैतिकता, भ्रष्टाचार, अनात्मीयता, अनुशासनहीनता, अन्याय, पक्षपात आदि अर्थ और कामाधिष्ठित विचारोंके फल हैं जिसके अपनानेसे काम तृप्ति प्रीत्यर्थ अर्थ जुटानेमें बाधा नहीं आती और कष्ट व जिम्मेदारीसे आसानीसे छुटकारा पाया जा सकता है। कोरे अर्थवाद और कामवादने परिवारको भुला दिया और केवल व्यक्ति व समाजको जीवित रखा। पर स्वार्थ इतना बढा कि व्यक्तिने समाज (वाद) को भी नष्टभ्रष्ट कर दिया। अर्थवाद या अर्थाधिष्ठित विचारोंने समाजको शोषक और शोषितमें विभाजित कर संशयमें डाल विघटित किया तो कामवाद या कामाधिष्ठित विचारोंने समाजको केवल स्त्री व पुरुष रूपमें विभाजित कर अनैतिकता और भोगविलासमें नष्टभ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार समाज दम तोड रहा है। धर्मसापेक्ष अर्थ और धर्म व अर्थसापेक्ष काम ही सच्चे अर्थमें अर्थ और काम हैं। यदि यह सत्यार्थ प्रकाश किया जाता तो व्यक्ति और समाज ही क्या परिवार भी जीवित रहता। साथ ही इन्हें जीवित रखनेवाले तत्त्व भी उभर आते थे। तृप्ति, प्रसन्नता और शांति व सुख स्वयम् ही फल स्वरूप मिल जाते थे। पर धर्म निरपेक्ष विचार रखनेसे अर्थ और कामके मिथ्यार्थ सामने आये और धर्मके हननसे किसका हनन हुआ यह ध्यानमें आया। व्यक्ति व्यक्तिमें विचार वैचित्र्य, विभिन्नता, उसके निजी वैषयिक विचार और उपभोग की कल्पना सृष्टिके अनुसार दिखायी देते हैं। क्योंकि अर्थ और काम परक विचारोंमें धर्मकी सापेक्षताका अस्तित्व नहीं। यदि धर्मसापेक्ष अर्थ व काम हों तो आत्मीयता बढेगी यह निर्विवाद सत्य है। विचारोंके आदान प्रदानोंमें मेल बैठेगा और प्रगत विचार उनमें विचार वृद्धि लायेंगे। वितण्डावाद नहीं चलेगा और कुतर्क बन्द हो जायेंगे। विचारोंमें सुसूत्रता रहेगी यह अधिक विचार करने पर ध्यानमें आयेगा।

कोरे अर्थ और काम, परिवार और समाजको कैसे नष्टभ्रष्ट करते हैं यह ऊपर लिखा गया है। वैसे ही व्यक्ति की तृप्ति कैसे असंभव है यह भी कोरे अर्थ और काम परक विचारोंपर अधिक दृष्टिपात करनेसे ज्ञात होगा। आजका व्यक्ति, परिवारको झंझट, जाला क्यों समझता है और विवाह संस्कार जो इसका मूल है क्यों विमुख होता जा रहा है यह भी अधिक विचार करनेपर समझमें आयेगा। विवाह परिवारका मूल है। यदि विवाह न किया जाये तो भविष्यके झंझट गलेमें नहीं पडते। स्वैराचारके लिये मृत्यु पर्यन्तपूर्ण समय उपभोगके लिये मिलता है। कोई चिन्ता नहीं कोई कर्तव्य और जिम्मादारी नहीं। इस प्रकार विवाह विमुख होनेतक अर्थ और कामाधिष्ठित विचार आ गये हैं। धर्मसापेक्ष, अर्थ और कामाधिष्ठित विचार बनानेके लिये हम क्या कुछ कर सकते हैं यह भी विचार करने योग्य है। जिससे भविष्यमें कालचक्र हमारी संस्कृति और उज्ज्वल परंपराको प्रतिष्ठित करके अनुकूल हो घूमे।

कोरा अर्थवाद और कामवाद स्वार्थसे अन्य परिवार, समाज, संस्कृति आदिको नष्टभ्रष्ट करता है यह सम्भवतः महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अपने योगसे जान लिया था। यद्यपि ऐसा लेख स्पष्टतया नहीं देखनेमें आया तथापि उनकी अर्थ और कामकी व्याख्या और सत्यार्थ प्रकाशके अध्ययन और मननसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विचारोंका मूलाधार धर्म हो। उन्होंने उपदेश दिया है कि अर्थ वह है जो धर्महीसे प्राप्त किया जाय और काम वह है जो धर्म और अर्थसे प्राप्त किया जाय। इससे ज्ञात होगा कि अर्थ और कामका सत्यार्थ क्या है। अर्थ प्राप्ति और विनियोगमें धर्माधिष्ठान हो और कामपूर्तिमें धर्म व अर्थ दोनोंका विचार हो। धर्माधिष्ठित विचार सब विचारोंमें मूलाधार हो।

धर्माधिष्ठित विचारोंकी सामग्री कौनसी है यह प्रथम देखना होगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य (व्यभिचार वृत्ति पर संयम) अपरिग्रह, शौच, सन्तोष (हानिलाभमें शोक हर्ष न करना), तप (कष्ट सहन करनेकी वृत्ति) स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान यह संक्षेपमें सामग्री है जो सदैव अन्तश्चक्षुमें बनी रहे। इन तत्वोंपर नपे तुले विचार होने चाहिये यह यहां अभिप्रेत है। समाज अनेक व्यक्तियोंसे बना है पर व्यक्ति कुटुम्बका घटक है। व्यक्तिका व्यक्तित्व कुटुम्ब या परिवारमें बनता है। पारिवारिक परिस्थितिका जैसा स्तर होगा वैसा उसका सदस्य व्यक्ति बनता है। माता पिता पर अपने बच्चोंका व्यक्तित्व बनानेमें बडा दायित्व है यह अधिक विचार करनेपर ज्ञात होगा। मातापिताको अपना दायित्व निभाते समय क्या कुछ करना चाहिये यह भी यहां-देखना होगा। महर्षिका इस सम्बन्धमें उपदेश है कि जब पांच-वर्षके लडका लडकी हों तब देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावे अन्य देशीय भाषाओंके अक्षरोंका भी कराये। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदिसे कैसे कैसे वर्तना चाहिये इन बातोंके मन्त्र, श्लोक, सूत्र, पद्यभी, अर्थ सहित कण्ठस्थ करावे। जिनसे सन्तान किसी धूर्तके बहकानेमें न आवे, और जो जो विद्या, धर्म विरुद्ध भ्रान्ति जालमें गिरानेवाले व्यवहार हैं उनसे दूर रहनेका भी उपदेश करें। जैसी अन्य शिक्षाकी वैसी, चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या-भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषोंके छोडने और सत्याचारके ग्रहण करनेकी शिक्षा करे। माता पिता आचार्य अपने सन्तान और शिष्योंको सदा सत्यका उपदेश करें। और यह भी कहें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उनको ग्रहण करो और जो जो दुष्ट कर्म हों उनका त्याग किया करो। यह है कुछ भाग जो मैंने महर्षिके उपदेशोंमेंसे लिया है। प्रत्येक शब्द मननीय और स्पष्ट है। अर्थकी व्यापकताको ध्यानमें रखकर मातापिताका दायित्व मानवताके बनानेमें कितना है यह इससे ज्ञात हो जायेगा, ऐसा न करनेसे माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः कैसे सार्थ होता है यह भी ध्यानमें आयेगा।

घरमें धार्मिक वातावरण बने इसके लिये प्रयत्न करना होगा। सन्ध्या वन्दन, वेदाध्ययन चलता रहे। कमसे कम आधा घण्टा सब परिवारके सदस्य मिल यह दैनिक कर्तव्य नित्य करलें तो कोई कठिनाई न होगी। पहले पहले कष्ट होगा पर पश्चात अभ्यस्त हो ही जाते हैं। घरमें श्रद्धास्थान चुन लिया जासकता है। जहाँ चारों वेद संहितायें श्रद्धा भक्ति पूर्वक सुगन्धित वातावरणमें प्रतिष्ठित हों। यदि चारों वेद नहीं तो अेक वेद ही क्यों न हो संहिता या अर्थके साथ प्रतिष्ठित किया जाये। कपडोंके आवरणोंमें सुरक्षित रखा जाये और इसे पश्चिमाभिमुख रखें जिससे हम पूर्वाभिमुख रह सन्ध्यावन्दन पश्चात् वेदाध्ययन कर सकें। कुटुम्बके समस्त सदस्य शुचिर्भूत ही अनुशासन पूर्वक प्रातः यह दैनिक यज्ञ चलायें। इससे मनकी शुद्धि ही न केवल होगी अपितु धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिःके अनुसार धर्मका यथार्थ स्वरूप भी ज्ञात होगा। बालकोंके कोमल मन स्वयम् ही धर्म द्वारा एक विशेष प्रेरणा पाकर इसीको अधिष्ठान बनायेंगे। अनर्थकारी पुस्तकों और कुसंस्कार डालनेवाले मनो-रंजनोंको त्याग, समय बहुत बचता है ऐसा ध्यानमें आयेगा। कुसंस्कार डालनेवालेके लिये समयाभाव और सुसंस्कार डालनेवाले उपरोक्त दैनिक कर्तव्यके लिये अवसर मिलना चाहिये यही इसकी महत्ता है जो हृदयपर अंकित होनी चाहिये। काल और परिस्थिति पर विजय हम दृढ निश्चय करने पर पाही जाते हैं। और फल अमृत कुम्भरूपमें हाथ लगेगा इसमें क्या संशय।

धर्माधिष्ठित विचारोंको जागृत करनेमें और बनाये रखनेमें परिवारका क्या योगदान है यह ज्ञात होगया। मातापिताका उत्तरदायित्व क्या है इसपर भी विचार हुआ। अब शेष है शुभस्य शीघ्रं। श्री शिवाजीको जिजाबाईने शिक्षा दीक्षा क्या दी थी यह इतिहास बताता है और यह भी बताता है कि इसी शिक्षा दीक्षानें शिवाजीको छत्रपति तो बनाया ही पर इससे भी कहीं अधिक संस्कृतिका संरक्षक बनाया। यह है परिवारका सामर्थ्य। हमारे पूर्वजोंने इसे सुरक्षित रखनेकी सीख दी। इसका महत्व क्या है यह आज भी ध्यानमें आने योग्य है। परिवार यदि सुदृढ है तो समस्त राष्ट्र चट्टान है ऐसा वह दृढ है कि जिसने टक्कर ली चूर चूर हो गया। इसका महत्त्व भुलाया गया तो मानवजाति कायम रहेगी क्योंकि यह जीवका गुणधर्म है पर सत्यार्थमें मानव नहीं रहेगा। पाठशालामें प्रविष्ट होनेसे पहले पारिवारिक परिस्थिति यही पाठशाला है यह विस्मृत नहीं करना चाहिये।

आजके बालक कलके आधार स्तम्भ हैं। हम भी बालक

थे और आज आधार स्तम्भ हैं। आधार स्तम्भका कर्तव्य क्या होना चाहिये यह यहां विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता नहीं। कलका आधार स्तम्भ कैसा बने यह आज हम सोचते हैं। सोच सकते हैं। परिवार, समाज और राष्ट्रको अपने बालकोंके व्यक्तित्वके निखारनेमें उत्तरदायी है। आजकी भयानकता इसकी महत्ताको विस्मृत करनेका परिणाम है। दोष किसी पर सुलभतासे थोपा जा सकता है पर सत्य यही कि परिवारमें पारिवारिकताका उत्तरदायित्व नहीं निभाया गया। बालकोंके कोमल मनों पर सुसंस्कार डालने का प्रयत्न नहीं हुआ, यह सत्य है। शासनकी ओर इसके लिये मुंह ताकनेकी आवशकता नहीं। पराधीनता काल हमारे पूर्वजोंकी सीखके अनुसार चलनेसे और उत्तरदायित्व निभाते चलनेसे कुछ बिगड न सका। स्वाधीनताकी प्राप्तिपर किसके भरोसे हम अपने पूर्वजोंसे प्राप्त परिपाटी विस्मृत किये हैं। दोषारोपण करते बैठनेसे समस्या सुलझती नहीं। पुरुषार्थ हाथमें लेकर उठनेसे सुलझती है। शैशवावस्थासे हो यदि धर्म-वृत्ति बनानेके प्रयास मातापितानें किये तो अपेक्षाकृत अधिक साध्य होजाता है। बालकके प्रथम बारह वर्ष महत्व पूर्ण होते हैं। जैसी शिक्षा दीक्षा उसे मिलेगी वह आगे इसी मूलाधार पर स्थिर हो सोचने, समझने और बोलनें लगता है। विदेशी भी, यदि किसी राष्ट्रकी संस्कृति नष्ट भ्रष्ट कर वही अपने नियंत्रण या समर्थनका समाज और शासन पाना होता है तो वे अन्य भागोंके अतिरिक्त शिक्षा क्षेत्र पर अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि राष्ट्रका केन्द्र बदलनेका स्थान व समय कहां है यह उन्हें ज्ञात है। कुटुम्ब या परिवारके दुर्लक्ष करनेसे बालकपर अपने इच्छित संस्कार डालनेका विदेशियोंको और अच्छा अवसर नहीं मिलता। इसका वे अवश्य लाभ उठाते हैं। आजका बालक कलका अपने रंगमे रंग अपनाही गुलाम बनने वाला है वह उन्हें पता है। कलका आधार अपने नियन्त्रण व समर्थनका बने इसके लिये जो कुछ किया जा सकता है किया जाता है। शासनको कोरे अर्थ व काम परक शास्त्र दे दिये जाते हैं जिससे वह उसमें उलझा रहे। विदेशियोंके प्रयत्नसे न हों तो और कैसे हों। राष्ट्रीय स्वार्थ उन्हें ऐसा करनेपर मजबूर करता है। वे अपने राष्ट्राभिमानमें पक्के होते हैं। अन्योंको अपने नियन्त्रण व समर्थनमें रखना कोई भी राष्ट्र चाहेगा ही। परमात्मा न करे ऐसा कुछ यहां हों। पर कुटुम्ब अपना दायित्व निभाये, दृढतासे निभाये जिससे ऐसी परिस्थिती का निर्माण हो। यह भी यहां सदैव ध्यानमें रखना चाहिये।

कालचक्र घूम रहा है। उसकी अपनी गति है। वह हमारी परवाह नहीं करता। हमें विवेक और कर्म अपने हाथमें लेना होगा। कालचक्रको अपने अनुकूल घुमानेके लिये पुरुषार्थ करना होगा। हम इन्द्र हैं और विजय हमारे हाथमें है। भयानक परिस्थितिको समाप्त करनेके लिये कुटुम्बके दायित्वका वज्र हाथमें लेना होगा। धर्माधिष्ठित विचारका महत्व समझना होगा जो हमारा संकल्प है। स्वदेशमें स्वत्व रहे और विदेशी अपनी कुटिल चालको समाप्त होते देख करारी चोट खायें। यह सब कुछ होना हमारे हाथमें है। हम ही इसमें समर्थ हैं।

भारतीयसंस्कृति

लेखक– पद्मभूषण पं. श्री. दा. सातवलेकर

अनुवादक– श्री. श्रुतिशील शर्मा

☆

१ समन्वयवाद- एक आधारहीन कल्पना

" भारतीयसंस्कृति " का गुणगान सभी करते हैं। पर प्रत्येकका दृष्टिकोण पृथक् पृथक् होनेके कारण वे सभी अपने अपने दृष्टिकोणके अनुसार निश्चित की गई भारतीय संस्कृतिका गुणगान करते हैं। इस कारण जितने भी भारतीय-संस्कृतिकी प्रशंसा करते हैं, उन सभीके वर्णनोंमें संस्कृतिकी-विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पर इतना तो निश्चित ही है कि ये सभी भारतीयसंस्कृतिकी उत्तमताका गान करते हैं। पर यह भारतीयसंस्कृति कौनसी है? यह प्रश्न भी कम महत्त्वका नहीं है। इसका स्वरूप निश्चित करनेमें आकाश पातालका अन्तर हो सकता है।

बौद्धसंस्कृति

कई विद्वान् बौद्धसंस्कृतिको सर्वश्रेष्ठ और उसीको भारतीयसंस्कृति मानकर उसका वर्णन करते हैं। सरकारने भी बुद्धचक्र और बुद्धसिंह मूर्तिको अपनाकर बौद्धसिद्धान्तको मान्यता प्रदान की है। बौद्धसंस्कृतिका मुख्य सूत्र है—

१ सर्वं क्षणिकं
२ सर्वं दुःखमयं
३ सर्वं अनीश्वरं विश्वं

यह सभी विश्व क्षणिक, दुःखमय और अनीश्वर है। येही तत्त्व बौद्धसंस्कृतिके आधार हैं। इस संस्कृतिमें और भी जितने तत्त्व हैं, वे भी इन्हीं तीन तत्त्वोंपर आधारित हैं। जैनसंस्कृति भी बौद्धसंस्कृतिकी तरह ही है। इसलिए उसपर पृथक् रूपसे विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इन दोनोंही धर्मोंने " अहिंसा " का प्रतिपादन बडे जोरशोरसे किया है। इसीकारण आज इन दोनों धर्मोंकी विशेष मान्यता है। महात्मा गांधीजीने भी इन तत्त्वोंको अपनाया, अहिंसाको राजनीतिमें स्थान दिया और उसके द्वारा स्वराज्यकी प्राप्ति कराई। लोग यह समझते हैं कि स्वराज्य की प्राप्ति अहिंसाका ही चमत्कार है, इसीलिए आज बहुजनसमाज अहिंसाकी श्रेष्ठताको स्वीकार करता है।

हिन्दू मुस्लिम मिश्र संस्कृति

कुछ समाजसुधारक तो इससे भी एक कदम आगे बढकर यह कहते हैं कि हमारी भारतीयसंस्कृति हिन्दु और मुसलमानी विचारप्रवाहोंका मिश्रण है, पर आजतक इन्होंने ईसाई धर्मको भी भारतीय संस्कृतिका एक अंग नहीं माना, यही गनीमत है। हिन्दू और मुसलमानी विचारधाराओंका मिश्रण उत्तमतासे हो सके, इसी दृष्टिसे उपरोक्त समाज-सुधारकोंने मिश्रविवाह, मिश्रखानपान, मिश्रभाषाका उपक्रम शुरु किया। भाषाका हिन्दुस्तानी बनानेका प्रयत्न गत अनेक वर्षोंसे किया गया, पर वह सफल नहीं हुआ। इस प्रयत्नका इतना तो परिणाम अवश्य हुआ कि पाकिस्तानके रूपमें यह भारत खण्डित हो गया और उस पाक–पवित्र स्थानसे अपवित्र हिन्दुओंका उच्चाटन शुरु हो गया। वे समाजसुधारक यह भूल गए कि यह सम्मिश्रण तभी संभव हो सकता है, जब कि दोनों तरफके लोग इस बातके लिए तैय्यार हों। दोनोंमेंसे यदि कोई भी एक पक्ष तैय्यार नहीं होगा, तो यह मिश्रण भी संभव नहीं हो सकता। पाकिस्तानको निर्हिन्दू करनेके पाकिस्तानियोंके प्रयत्नको देखकर सम्मिश्रण-वादियोंका उत्साह ठण्डा पड जाना चाहिए था, पर भारतमें जबतक मुसलमान रहेंगे, तबतक इन सुधारकोंका उत्साह

ठण्डा होता हुआ नहीं दीखता, इनका उत्साह अप्रतिम है।

तो भी पाकिस्तानियोंने इन सुधारकोंके प्रयत्नोंका कोई मूल्य नहीं आंका। इसलिए इनका उत्साह भी अब ठण्डा पडता दीख रहा है।

इससे पूर्व भी गुरु नानकने हिंदु और मुसलमानीसंस्कृतिको मिलानेका बडा प्रयत्न किया, पर वे भी इस दिशामें असफल ही रहे। राजपूतोंने भी मुगलबादशाहोंको अपनी बहिन बेटियां देकर इन दोनों संस्कृतियोंके समन्वयकी कोशिश की, पर यह कोशिश भी इकतरफी ही रही। अबतकके इतिहासको देखनेसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि हिन्दु इस मिश्रणके लिए सदा तैय्यार रहते हैं, पर दूसरे पक्षके लोग इसे पसन्द नहीं करते, इसीलिए इस प्रकारके प्रयत्न निष्फल ही होते हैं।

समन्वयका परिणाम

सुधारकोंने पाकिस्तान-निर्माणसे पूर्व अनेक स्थानोंपर समन्वय करनेका प्रयत्न किया, पर उसमें भी हानि हिन्दुओंको ही उठानी पडी। पाकिस्तानी स्पष्टतया कहते हैं कि सारा हिन्दुस्तान हमारा है और जब सारे हिन्दुस्तानका यवनीकरण हो जाएगा, तभी यह समन्वय संभव हो सकेगा। पर सुधारक भी इस यवनीकरणके लिए तैय्यार नहीं हैं, इसलिए दोनों संस्कृतियोंके समन्वयीकरणकी बात यहीं खत्म हुई हुई सी प्रतीत होती है।

इसपरसे अब इतना तो स्पष्ट ही हो गया है कि हिन्दु-मुसलमान-ईसाई इन तीनों संस्कृतियोंके समन्वयकी कल्पना भी आकाशकुसुमवत् निष्फल है। इसलिए इस प्रश्नको हम यहीं छोड देते हैं। अब प्रश्न रह गया बौद्ध और हिन्दु-संस्कृतिके समन्वयका। हम आज देखते ही हैं कि जैन हमसे फूटकर अलग हो गए हैं, उसीप्रकार यदि बौद्ध भी इसीप्रकार अलग हो गए, तो हिन्दु समन्वय किससे करेंगे?

जैनोंका पृथक्त्व

कई लोगोंका यह विचार है कि बौद्धधर्म हिन्दुधर्ममें घुलमिल गया है। उनका यह विचार सर्वांशमें असत्य नहीं है। पर इसीप्रकार घुले मिले हुए जैन मन्दिरप्रवेशके कानूनके बनते ही हिन्दुओंसे अलग होकर अपने डेढचावलकी खिचडी अलग पकाने लग गए। इसीप्रकार यदि बौद्धोंको डंक मारनेवाला कोई कानून बन जाएगा, तो वे भी हिन्दुओंसे राम राम कर जाएंगे। पर सौभाग्यसे कहिए या दुर्भाग्यसे, भारतमें बौद्ध बहुत ही थोडे हैं।

बौद्धोंकी संख्या अत्यल्प होनेके कारण उनके समन्वयका मूल्य भी अल्प ही है। जैनोंकी संख्या बौद्धोंकी अपेक्षा ज्यादा है, पर वे अलग होते जा रहे हैं। इस प्रकार समन्वयवादिताके विचारोंकी नीव ही डगमगा रही है।

इसलिए जबर्दस्ती सम्मिश्रण न करना ही अच्छा है। यदि वह स्वयंही होना होगा तो होजाएगा, अन्यथा नहीं होगा। यदि जबर्दस्ती समन्वय किया जाएगा, तो वह घातक हुए बिना नहीं रहेगा।

भारतीयसंस्कृतिका स्वरूप

संस्कृतिका विचार करते समय हमें बुद्धपूर्वके कालमें जाना पडेगा और यह देखना पडेगा कि उस समय भारतीय संस्कृतिका स्वरूप कैसा था। वैदिकसंस्कृतिका मुख्य तत्त्व " सर्वं आनन्दमयं " है, जबकि बौद्धसंस्कृतिका मुख्यतत्त्व " सर्वं दुःखमयं " है। शेष तत्त्व भी इसीप्रकार परस्पर विरोधी हैं। फिर इन दोनों परस्पर विरोधी संस्कृतियोंका समन्वय किस तरह हो सकता है? वैदिकधर्मके अनुयायी विश्वरूपको परमेश्वर मानकर और विश्वको आनन्दमय समझकर अनन्यभावसे विश्वरूपकी सेवा करेंगे। इसके विपरीत बौद्ध विश्वको दुःखमय मानकर उसको छोडनेका प्रयत्न करेंगे। फिर इन दोनों संस्कृतियोंका समन्वय किस तरह हो सकेगा?।

समन्वय असम्भव

पुराणकालमें पुराणकारोंने बौद्धोंको प्रसन्न करनेके लिए बुद्धको अवतार घोषित कर दिया और प्रायः सभी बौद्धतत्त्वज्ञानको स्वीकार कर लिया। उसके बादसे ही प्रायः सभी साधु, सन्त, कथा कीर्तनकार, प्रवचनकार, पौराणिक अपने अपने प्रवचनों और भाषणोंसे बौद्धविचारोंका ही प्रचार करने लगे। इस आक्रमणके बाद वैदिकविचारसरणीका अस्तित्व ही खतरेमें पड गया। यह वस्तुतः वैदिकधर्मका एक तरहसे पराभव ही है।

आजके हिन्दुसमाजमें जगका क्षणभंगुरवाद, संसारको त्याज्य मानना, संसारको त्यागनेसे ही मुक्तिकी प्राप्ति मानना आदि सभी विचार बौद्धविचार ही हैं। इस विचारधाराके

कारण साधारणजनताकी दृष्टि इस भौतिक जगत् परसे उठकर पारमार्थिक विश्वपर जड जाती है। यह भौतिक जगत् बन्धनकारक है, शरीर एक बन्धन है आदि विचार जबतक वायुमण्डलमें गूंजते रहेंगे, तबतक लोग इस भौतिक जगत्से उदासीन ही रहेंगे। बौद्धविचारोंने गृहस्थाश्रमका सत्यानाश कर डाला, लोगोंके मनमें जीवनके प्रति आस्था समाप्त कर दी। स्त्रियोंको अधम सिद्ध किया, सब लक्ष्य निर्वाणपर केन्द्रित हो जानेके कारण सांसारिक सुखका विचार क्रमशः न्यून होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो कोई चाहता आकर हिन्दुओंको दबा देता, उनपर राज्य करता, और हिन्दु उससे समन्वय करनेके लिए उसके पीछे दौडते। पिछले दो हजार वर्षोंसे हिन्दुओंका व्यवहार इसी-प्रकारका रहा है।

इसके विपरीत वैदिकधर्मके अन्तिम ग्रंथ भगवद्गीतामें विश्वको परमेश्वरका रूप माना है। संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक और उपनिषदोंका भी यही विचार है। परमेश्वरका रूपभूत यह विश्व त्याज्य, हेय और दुःखदायी हो ही नहीं सकता। विश्वरूपमें जन्म लेना भी एक सौभाग्य ही है। इसलिए भारतीयसंस्कृतिमें जन्मदात्री मांको स्वर्गसे भी गरीयसी माना गया है। विश्वके सम्बन्धमें यह उदात्त विचारधारा बुद्धपूर्वके ग्रंथोंमें दिखाई देती है।

बुद्धका प्रभाव

बुद्धके आगमनसे वैदिकधर्मके इन उदात्तविचार धाराओंको धक्का पहुंचा। इसीलिए उस समयके लोगोंकी दृष्टिमें बौद्ध-धर्म अवैदिक और वेदमतका खण्डनकर्ता था। पर आज वही धर्म हमारे लिए आदर्श बना हुआ है।

आज विश्वको सच्चिदानन्दस्वरूप माननेवाले वैदिक-धर्मानुयायी विश्वको दुःखमय माननेवाले बौद्धधर्मके साथ समन्वय करना चाहते हैं। इसीकारण वैदिकधर्मने बौद्धधर्मको आत्मसात् करके आत्मनाश किया। फलतः भारतीयोंकी दृष्टि अभ्युदयसे हटकर निर्वाणपर केन्द्रित हो गई और अभ्युदयकी तरफसे वे बिलकुल उदासीन होगए।

साधुसन्तोंके वाङ्मयमें "जो कुछ दीखता है, उसे भगवान्का रूप" माना तो है, पर साथ ही गर्भवासके दुःखों का बडा भयंकर वर्णन भी है। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि यदि यह सारा संसार ही भगवान्का रूप है तो फिर गर्भ और गर्भमें आनेवाला जीव भी तो ईश्वरका रूप ही है, फिर उसके बारेमें इतनी आफत क्यों मचा रखी है? पर बुद्धके असम्बद्ध विचारोंको आत्मसात् करनेके बाद इस असम्बद्ध प्रलाप पर विचार करनेका साहस कौन कर सकता है?

बौद्धविचारोंको आत्मसात् करनेके बादसे ही भारतीय हिन्दुओंमेंसे वीरवृत्ति उठ गई, वे पहलेके समान सामर्थ्यशाली नहीं रहे। जबतक यह विचारप्रवाह वातावरणमें बहता रहेगा, तबतक हिन्दु इसीप्रकार सामर्थ्यहीन रहेंगे। "सर्वं दुःखमयं" के अनुयायी इस संसारमें सुखका अनुभव कर भी किस तरह सकते हैं? हमेशा यह ध्यानमें रखना चाहिए कि विचार ही किसी समाज, राष्ट्र या विश्वपर राज्य करते हैं, धियो विश्वा विराजति।

रामायण-महाभारतका महत्त्व

हिन्दूसमाजमें बीच बीचमें अनेक लोकोत्तर पुरुष भी जन्मते आए हैं, इसका कारण सिर्फ यही है कि आज भी हिन्दुओंपर रामायण और महाभारतकी छाप है। पर वर्तमान पीढीपर उसका छाप धीरे धीरे गायब होता जारहा है। रामायण और महाभारतमें भी बौद्धविचार प्रवेश कर गए हैं। तथापि इन दोनोंका अपना स्वाभाविक तेज भी कायम है। वह तेज बहुत ही प्रभावशाली है। आजकी स्थितिमें सिर्फ एक ही उपाय बाकी रह गया है, वह यह कि बौद्ध-विचारोंको तिलांजलि देकर वैदिकविचारोंको पुनः जागृत किया जाए। हिन्दु समाजके लिए यही एकमात्र तरणोपाय है।

यदि भारतीयसंस्कृतिके द्वारा संसारका उद्धार करना है, तो वह वैदिकऋषियोंकी विचारसरणीसे ही होगा, बौद्धविचारसरणीसे नहीं। यही बात महर्षि दयानन्द सरस्वती और योगी अरविन्दने कही थी। उनकी बातोंको दुर्लक्ष्य करनेका मतलब है आत्मनाश।

जब जब हमने समन्वयवादकी तरफ कदम बढाये, तब तब हमें नुकसान उठाना पडा। दूसरोंने तो अपना दुराग्रह छोडा नहीं, हमें ही अपनत्व छोड देना पडा। इसीकारण बौद्ध, जैन, ईसाई आदियोंसे जब जब हमारा संघर्ष हुआ, तब तब हम अपने तत्त्वोंसे डिग गए फलतः हमें बहुत नुकसान उठाना पडा। आज भी यदि कोई संसारको क्षण-भंगुर कहता है, तो हमारे शरीरमें सेरभर खून बढजाता है,

+

संसारको असार कहता है, तो प्रसन्नतासे हमारा सीना फूल जाता है, दो दिनकी दुनियांका विचार हमारी की रग रगमें समा गया है। पर

अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् कहते हुए हमारी जीभ लडखडाती है। यह सब उसी समन्वयवादका परिणाम है।

पृथ्वीपर स्वर्ग

ऋषियोंकी दृष्टि हमेशा इस विश्वपर रही है। वे इसी पृथ्वीपर स्वर्गकी स्थापना करना चाहते थे। उनकी घोषणा ही यह थी कि "समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्" अर्थात् सागरपर्यन्त पृथ्वीका शासक एक ही हो और उस पृथ्वीका शासन आर्यपद्धतिसे हो। आज भी ब्राह्मणवर्ग मंत्रपुष्पके [1] समय चिल्ला चिल्लाकर उसकी घोषणा करता हैं। पर वे यह भी नहीं समझते कि आखिर वे चिल्ला क्या रहे हैं? यह आजकी स्थिति है। मंत्रपुष्पमें "समुद्र वलयांकित पृथ्वीका एक आर्यराजा" स्थापित करनेकी महत्त्वाकांक्षा केवल चिल्ला चिल्ला कर प्रकट करनी चाहिए, अथवा उसे कभी अस्तित्वमें लानेका प्रयत्न भी करना चाहिए या नहीं? मंत्रपुष्पमें यह वाक्य राजनैतिकदृष्टचा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आजके ब्राह्मण और वेदपाठी राजनीतिके ज्ञानसे सर्वथा शून्य हैं। अब तो उनका धर्म भगवान्के आगे चिल्लानामात्र रह गया है। पर जिन्होंने सर्वप्रथम उपर्युक्त घोषणा की थी वे ऋषि राजनीतिमें पण्डित थे और सारे संसारकी राजनीति उनके हाथोंमें खेलती थी। उस समय ऋषियोंकी "समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्" की घोषणा जीवित जागृत थी। आज वह निष्प्राण हो गई है, क्योंकि आज हमारी नजरोंसे अभ्युदय ओझल हो गया है।

विश्वशान्ति

ऋषियोंकी दूसरी घोषणा "शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः" की थी। क्षुद्रकाय होते हुए भी यह घोषणा अर्थकी दृष्टिसे महाकाय है। इन तीन पदोंका अर्थ है, वैयक्तिक शान्तिकी स्थापना, सामाजिक या राष्ट्रीय शान्तिकी स्थापना और विश्वमें शान्तिकी स्थापना।" इस स्थानपर ऋषियोंका ध्येय विश्वशान्ति है। स्पष्ट है कि यह विश्वशान्ति विश्वको स्वर्ग बनानेकी इच्छा करनेवाले ही स्थापित कर सकेंगे, विश्वको दुःखमय माननेवाले नहीं। जबतक हम राजनीतिसे दूर रहकर राजनीतिको हौव्वा ही समझते रहेंगे, तबतक हमारा यह ध्येय पूर्ण नहीं हो सकता। व्यक्ति, राष्ट्र और विश्वमें यदि शान्ति स्थापित करनी हो तो अपने आधीन किसी एक राष्ट्रका सर्वाधिकार शासन होना ही चाहिए। किसी एक राष्ट्रके अधिपति ही इस कार्यको प्रभावशाली रीतिसे कर सकेंगे। आज अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंका समाधान राष्ट्रसंघके सदस्य ही कर सकते हैं।

१ सागरपर्यन्त पृथ्वीका एक शासक होना।

२ व्यक्ति, राष्ट्र और विश्वमें शान्तिकी स्थापना।

ये दोनों ही घोषणायें राष्ट्रीयमहत्त्वसे भरपूर हैं। यह घोषणा उन ऋषियोंकी है, जिनके हाथमें उस समयके विश्वकी राजनीति थी और जो विश्वके सम्पूर्ण राजाओंको शतरंजकी मोहरोंके समान स्वेच्छापूर्वक चलानेमें समर्थ थे।

आजके ब्राह्मणवर्गको धर्म और तिलके सिवाय और कुछ पता नहीं। प्राचीनकालमें जब यह घोषणा की जाती थी, तब लोगोंमें उत्साहकी एक लहर दौड जाती थी, इस घोषणामें जीवन था।

भारतीयसंस्कृतिमें जो जीवन है, वह राजनीतिमें निहित जीवनके कारण ही है। सैंकडों वर्षोंतक हम पराधीनताके वातावरणमें रहे। आज हम स्वतंत्र हैं। इसलिए अपनी घोषणाओंका विचार हमें फिर उसी दृष्टिसे करना पडेगा तभी भारतीयसंस्कृतिका महत्त्व हम समझ सकेंगे।

२ विचार परिवर्तनका दुष्परिणाम

भारतीयसंस्कृतिका प्राचीनतम प्रवाह "वैदिकविचार-प्रवाह" है। हजारों वर्षोंसे यह प्रवाह बहता चला आ रहा है। इस प्रवाहका नाम ऋषियोंने "भारतीयसरस्वती" रखा था। जब तक निर्लेप, निष्कलंक और शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल यह प्रवाह चालू था, तब तक आचार विचार, और राजनीतिकी दृष्टिसे भारत विश्वमें अग्रगण्य था। विदेशी तरुण यहां आकर ज्ञानविज्ञान की शिक्षा लेकर उसका प्रचार अपने देशोंमें जाकर करते थे।

---

१ महाराष्ट्रमें पण्डित वर्गने कतिपय वैदिकमंत्रोंका संग्रह किया है, इस संग्रहको ब्राह्मणवर्ग प्रत्येक पूजाकी समाप्ति पर बोलता है, इसी संग्रहको मन्त्रपुष्प कहते हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ मनु ॥

" इस देशके गुरुजनोंके पास पृथ्वी परके सब लोग आवें और जीवनके मार्गको सुखमय बनाने की शिक्षा प्राप्त करें।" प्राचीन समयमें संसारको ज्ञान प्रदान करनेका मान भारतके पास था। बुद्धपूर्व कालतक यह मान भारतके पास रहा, बुद्धोत्तरकालमें जो विचारक्रान्ति हुई, उसके कारण यह उससे छिन गया।

वैदिक–विचारसरणी

वैदिक-विचारसरणीके कतिपय प्रधानतत्त्व इस प्रकार थे–

१ वैदिकऋषि विश्वको परमेश्वरका रूप मानते थे। इसे वे साकार ईश्वर मानते थे। (पुरुष एवेदं सर्वम्। ऋग्वेद)

२ यह विश्व " सत्, चित् आनन्द " है। मनुष्य भी इस विश्वरूपका एक अंश है। मनुष्य इससे अनन्य है। क्योंकि यह उसीका एक अंश है और अंश और अंशी एक ही होते हैं।

३ विश्वरूप सत्य और पूर्ण है। (पूर्ण अदः पूर्ण इदं)। विश्व अपूर्ण नहीं, इसे जैसा होना चाहिए वैसा ही है।

४ इस विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करनी चाहिए। ऋषिगण यज्ञोंके द्वारा इस विश्वकी सेवा करते थे। यज्ञोंके द्वारा वे वैय्यक्तिक, सामूहिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण करते थे। उनके यज्ञोंका उद्देश विश्वसेवा ही था।

५ ब्राह्मण ज्ञानके द्वारा, क्षत्रिय संरक्षणके द्वारा, वैश्य धनसे और शूद्र कर्म करके इस विश्वरूपकी सेवा करते थे। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।(गीता) अर्थात् अपने कर्मसे इस विश्वकी सेवा करके ऋषिगण सिद्धि प्राप्त करते थे। वे मानों विश्वके रूपमें साक्षात् परमेश्वरसे ही व्यवहार करते थे।

६ इस परमेश्वरके विश्वदेहमें मनुष्य जन्मता है। यह मनुष्यका एक महान् सौभाग्य है। मनुष्य विश्वदेहका एक भाग ही है। इसलिए वह जहां भी हो, उसे समर्थ ही होना चाहिए। इसकारण उस समय मनुष्यको सामर्थ्यशाली बनानेके लिए अनेक योगसाधनों और अनुष्ठानोंका प्रयोग किया जाता था और इस प्रकार मनुष्यको अनुशासित किया जाता था।

७ इस विश्वदेहमें मनुष्यको उत्पन्न करनेवाली स्त्री बहुत बडी शक्ति है। यह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है। स्त्रीके बिना कोई भी यज्ञ नहीं होता। घर पुत्रपौत्रोंसे भरा हुआ हो।

८ शरीर देवोंका मन्दिर या सप्त ऋषियोंका आश्रम है। यह कल्पवृक्ष है। जिस प्रकारका विचार किया जाएगा, उसीतरह की सिद्धि होगी। शरीर एक साधन है, इसलिए उसे सामर्थ्यशाली बनाकर उसका अधिकाधिक उपयोग करना चाहिए।

९ जीव ईश्वरका अमृतपुत्र है। वह जन्म लेते समय अपने साथ ३३ ईश्वरीय शक्तियां लेकर आता है। यहां आकर अपनी शक्तिका विकास करता है। ऐसे शक्तिपुंजको जन्म देना स्त्रीका ही काम होनेके कारण स्त्रीका विशेष महत्त्व है। इस कारण स्त्रियां पूजनीय हैं। स्त्रीसम्बन्ध भी इसी कारण पवित्र है।

१० इस पृथ्वीको स्वर्गधाम बनाना है। यहां जीवित रहते हुए ही अपनी अनन्त शक्तियोंका अनुभव लेना है। यही मनुष्यका ध्येय है। जीवित दशामें ही मनुष्यको इस पृथ्वी पर स्वर्गका सुख भोगना है।

वैदिकऋषियों और उस समयके तरुणोंके सामने ये तत्त्व रहते थे, और उनका उद्देश्य ऐसे अनुशासनशील मनुष्योंको तैय्यार करना था कि जो चतुर्विध पुरुषार्थ करके अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध कर सकें। इसीकारण ऋषियों ने मनुष्यका प्रत्येक दिवस और प्रत्येक पल इस कार्यके लिए निश्चित कर दिया था। बाल्यपन, तारुण्य और उत्तर आयु सभी कुछ निश्चित था इस प्रकार यह क्रम अनेक वर्षों तक चला। हजारों वर्ष तक यह आर्यजाति सामर्थ्यसम्पन्न ऐश्वर्यसम्पन्न और वैभवसम्पन्न रही।

बुद्धका आन्दोलन

इसके बाद बुद्धका जन्म हुआ। उन्होंने इस अनुशासनके विरुद्ध एक आन्दोलन खडा कर दिया। कठोर अनुशासनसे लोगोंका तंग आजाना स्वाभाविक ही था। जन्मसे लेकर मरने तक काम करनेका कार्यक्रम छूटता नहीं था। ऐसी स्थितिमें बुद्धने कहा कि " ओं मणि पद्मे हुं " मंत्रका जप करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो जाएगी। उसके लिए इतना प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है।

यह संसार असार है, विश्व दुःखमय है। इसमें रोग,

मृत्यु और दुःख भरा हुआ है। विश्व एक बडा भारी कैदखाना हैं। इस कैदखानेसे छूटनेके लिए जप करना चाहिए

स्त्री पापिन है। उसीके कारण जीव इस कैदखानेमें आता है। इसकारण स्त्रीसे सम्बन्ध न करे। शरीर एक पिंजरा है। पापभोगके लिए शरीरमें जीव आता है। यह शरीर अपवित्र है। उसे उपवाससे कृश बनाकर महाप्रस्थानके लिए तैय्यारी करनी चाहिए।

ऋषियोंकी दृष्टिमें यह शरीर देवमन्दिर या ऋषि आश्रम था, वही बुद्धकी दृष्टिमें अपवित्र पदार्थोंका एक गोला बन गया। ऋषि कहते थे कि इस शरीरको सामर्थ्यशाली बनाकर दीर्घायु प्राप्त करें, बुद्धने कहा कि इसे उपवासके द्वारा कृश बना दिया जाए। शरीर और विश्व कारागृह बन गए, स्त्री पापोंकी खान हो गई।

ऋषियोंके ये विचार उदात्त और श्रेष्ठ होनेपर भी बुद्धके अवैदिकविचारोंके आगे टिक न सके। इसका एक मुख्य कारण तो यह था कि वैदिककर्मकाण्डमें अनुशासन पर बडा जोर था। हमेशा उत्तम कर्म करते रहनेका डण्डा पीछे रहता था। व्यक्तिकी उन्नति, कुटुम्ब पोषण, राष्ट्रसंगठन, रोग दूर करना आदि अनेक तरहके काम पृथ्वी पर स्वर्ग स्थापित करनेके लिए ही किए जाते थे। ऐसी अवस्थामें यदि कोई कहे कि इसप्रकार जोतोड परिश्रम करनेकी क्या जरूरत है? केवल बैठे बैठे जप करते रहो, निर्वाणकी प्राप्ति हो जाएगी, तो स्वाभाविक है कि मनुष्यकी प्रवृत्ति उस तरफ होगी।

मनुष्य अनुशासनसे बहुत घबराता है। हर काममें स्वतंत्र रहना चाहता हैं। आरामसे यदि उसे सुख मिल जाए तो स्वाभाविक है कि वह उसकी ओर भागेगा।

बुद्धने यही किया। उन्होंने लोगोंका ध्यान प्रत्यक्ष ऐहिक सुख परसे अप्रत्यक्ष निर्वाण की तरफ खींचा। लोगोंको जो सरल मालूम पडे वही काम उन्होंने किया।

उस समय खाने पीनेकी दशा उत्तम थी। बाह्य आक्रमण नहीं होते थे। जमीन खूब उपजाऊ थी। सब तरहसे सुखसम्पन्न स्थिति थी। अतः लोगोंके विशेष प्रयत्न न करनेके बावजूद भी समाज उन्नति पर था। इसीकारण बुद्धका यह दुःखमय निष्क्रियवाद शुरु हुआ और निम्नस्तरकी जनता उसमें फंसने लगी। पर राष्ट्रपर उसका परिणाम अनेकों वर्षोंमें जाकर हुआ।

जनता अनुशासनहीन और आलसी बनती चली गई। लोगोंके खाने पीनेके लिए भरपूर, पर अनुशासन नहीं और काम भी नहीं। केवल जप करना भी रह गया। इसकारण विहारोंमें भिक्षु-भिक्षुणियोंकी संख्या बढ गई, साथ ही व्यभिचार और अनाचर भी। यह देखकर वृद्धावस्थामें पहुंचे हुए बुद्धको अत्यन्त दुःख हुआ। पर जनताका प्रवाह जो बदला, उसे रोकनेका सामर्थ्य तब बुद्धमें नहीं रह गया था।

बुद्ध महापुरुष थे। पर समाज और राष्ट्र को उच्च स्तर पर ले जानेके लिए जिस ज्ञान और अनुशासनयुक्त योजना की जरूरत थी, वह बुद्धके पास नहीं थी। महापुरुषोंका दोष बहुत बडे दुष्परिणामका कारण बनता है।

बौद्ध-साम्राज्यके नाशका कारण

आगे जाकर अशोकने बौद्धधर्म स्वीकार करके उसके प्रचारके लिए अपने खजाने खोल दिये। जो विहारमें आकर भिक्षु बन जाता, उसका योगक्षेम सरकार चलाती थी। इसलिए लोग उसकी तरफ खिंचने लगे। भिक्षु और भिक्षुणियों की तादाद बढने लगी। प्रत्येक परिवारमेंसे कोई न कोई भिक्षु या भिक्षुणी बन जाता। उन सबका योगक्षेम सरकार चलाती थी, इसके अतिरिक्त इन भिक्षुओंका मान भी बहुत था। अशोकका युवराज भी भिक्षु हो गया था। अनेक सरदारोंके तरुण पुत्र भी भिक्षु बनकर बौद्धधर्मके प्रचारक बन गए थे। ऐसी परिस्थिमें भिक्षु न बनना ही मूर्खता थी। अशोकका खजाना खाली होने लगा। राज्यके अन्दर दुष्टों पर नियंत्रण रखनेके लिए संरक्षक दल और सेनामें भरती होने वाले लोग कम ही रह गए। इस प्रकार होते होते यह विशाल साम्राज्य ३०-४० वर्षोंमें नाममात्र रह गया।

जिस राष्ट्रकी संरक्षण व्यवस्था और अर्थव्यवस्था ही यदि ढहढहाकर गिर पडे, तो कौन सा राष्ट्र टिक सकेगा? जिस सम्राट् अशोकका साम्राज्य भारतके बाहर भी फैला हुआ था, बौद्धधर्म स्वीकार करनेके बाद उसका साम्राज्य ३०-४० वर्ष भी नहीं टिक सका।

आसपासके देशोंमें बौद्धधर्मका प्रचार हुआ अवश्य, पर वे सब देश बौद्धधर्मके क्षणिकवाद और दुःखवादके उपदेशसे

उन्नत नहीं हुए । इनमेंसे अधिकांश देशों पर यवनोंका आक्रमण हुआ और वे सब देश विदेशियोंसे पादाक्रान्त हुए । उनमें स्वसंरक्षण की शक्ति ही नहीं रही । हिन्दुस्तानकी भी वही दशा आज हमें दिखाई दे रही है । जापानने जब बौद्धधर्मका जामा उतार कर फेंक दिया, तभी उसकी उन्नति हो सकी। तिब्बत अभी तक पिछड़ा ही हुआ है । क्योंकि वहां अभी तक बौद्धधर्मकी ही परम्परा है । वहांके प्रायः सभी लोग प्रार्थनाचक्रको घुमाते हुए दिखाई देते हैं । दीवारें भी प्रार्थनाओंसे भरी हुई हैं । मान्यता है कि उन दीवारों पर सिर्फ हाथ फिरानेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है।

बौद्धधर्मका प्रभाव

जो तत्वज्ञान जगको दुःखमय और शरीरको बंधन मानता है, उससे मनुष्योंका उद्धार होगा ही किस तरह ? बौद्धधर्म निराशावादी है । इस निराशावादसे आजतक भला किस राष्ट्रका कल्याण हुआ है ? स्पष्ट शब्दोंमें बौद्धधर्म संसारके लिए एक बडा भारी संकट है। भलेही उसका अस्तित्व आज भारतमें नहीं है, पर यह देश उसके प्रभावसे आजतक भी मुक्त नहीं हो पाया है। हमारे आचार, विचार, कल्पना और प्रवचन इन सभी पर निराशावादकी छाप है। हम पर अभी तक बुद्धके शिकंजें पडे हुए हैं ।

यह सत्य है कि हमारे सन्तोंने बुद्धका मंत्र निकालकर उसकी जगह देवका जाप प्रचलित किया, पर उनकी पद्धति बौद्धपद्धति ही है । केवल नामजपसे विदेशियोंको निकाल कर स्वराज्य स्थापित करना असंभव है। कांग्रेस, तिलक या महात्माजीके आन्दोलनोंमें ये माला फिराने वाले कुछ विशेष काम न कर सके, इसका कारण यही है ।

समर्थ रामदासने कमरपर हाथ रखकर शृंगारिक अवस्थामें खडे हुए विट्ठलकी पूजा बन्द करवाकर सर्वत्र धनुर्धारी राम और बलके प्रतीक हनुमानकी पूजा प्रचलित की। इसमें भी समर्थका राजनैतिक उद्देश्य था। पर माला फिराने वाले लोग समर्थका नाम भी नहीं लेते ।

सब सन्तोंका आविर्भाव बुद्धसिद्धान्तोंके कारण ही हुआ। उनमें अंशतः ऋषिधर्म है, पर अधिकांशतः बुद्धके ही विचार हैं। इसलिए इनसे देशके कल्याण की बहुत अधिक आशा नहीं की जा सकती ।

अनेक शतकोंके बाद हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है, इसलिए प्रत्येकको अपना बल बढानेके लिए सर्वतोमना प्रयत्न करना चाहिए। इन प्रयत्नोंके पीछे आशावादी और ओजस्वी विचार ही होने चाहिए ।

इस लेखमें मैंने वैदिकविचारपरम्परा और बौद्धविचार परम्पराका तुलनात्मक अध्ययन किया है । वैदिकविचार परम्परा आशावादी है, इन्हीं विचारोंसे अपना स्वराज्य स्वर्गके राज्यसे टक्कर लेने योग्य बन सकता है । इसके लिए आवश्यक है, कि जो अवैदिकविचार हमारे अन्दर घर कर गए हैं, उन्हें शीघ्रसे शीघ्र दूर किए जाएं । उसी अनुपातसे हमारा स्वराज्य सुदृढ होगा और स्वराज्य हमें स्वर्गीय सुख प्राप्त करा सकेगा ।

३ पृथ्वी पर स्वर्ग

संस्कृतिका स्वरूप

“ सं इति एकीभूय कृतिः ” इस संस्कृत व्युत्पत्तिके अनुसार सांघिक रूपसे की गई कृति ही संस्कृति है। जातिशः, संघशः, राष्ट्रशः जो कृति की जाती है, वह संस्कृति है । जैसा रूप जातिका होता है, वही रूप उसके एक घटक व्यक्तिका भी होता है । समूहमें रहता हुआ एक व्यक्ति उससे अनुशासित होता है । व्यक्ति पर समाजका अनुशासन होता है ।

संस्कृतिका अर्थ सम्यक् कृति या उत्तम कृति नहीं । आज हम एक ही देशमें रहने वाले विभिन्न धर्मानुयायियोंके विभिन्न आचरणोंको देखते ही हैं । उनमें हिन्दु, मुसलमान, पारसी आदियोंका सामूहिक आचरण कैसा होगा, यह हम जानते ही हैं । अमुक तरहके लोग अमुक तरहका आचरण करेंगे, इस प्रकारका हमारा अनुमान अधिकतर ठीक ही निकलता है । इस विषयमें अपवाद पर विचार नहीं किया जाता । यही सामूहिक वृत्ति है और यही संस्कृति है ।

भारतीयसंस्कृतिका जो प्राचीनतम वैदिकविचारप्रवाह था, और उस प्रवाहमें जगकी तरफ देखनेकी जो दृष्टि थी, वह हमने पिछले लेखमें दर्शा ही दी है । उस तरहका दृष्टि-कोण आज प्रचलित किसी भी धर्ममें नहीं है । केवल हिन्दु-धर्ममें वह थोडासा बाकी है, पर वह भी बौद्ध विचारोंसे ग्रस्त है । प्राचीन ऋषियोंने जिन विचारोंका मार्ग प्रदर्शित किया था, वही वास्तवमें मानवीय उन्नतिको सिद्ध करनेवाले है यही इस लेखमें हम बतलायेंगे ।

पृथ्वी पर स्वर्ग राज्य

पृथ्वी पर स्वर्गवत् सुव्यवस्थाके निर्माण करनेकी बात पर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे। पृथ्वी पर स्वर्गकी स्थापना, पृथ्वी पर देवराज्य की स्थापना आदि कल्पनायें ईसाई और मुसलमानीधर्मोंमें भी मिलती हैं। संभवतः यहूदीधर्ममें भी हों। वैदिकधर्ममें तो वे हैं ही। स्वर्गका राज्य किस तरहका होता है, उसकी स्थापनाके लिए क्या क्या करना पडता है, पृथ्वी पर स्वर्ग स्थापित करनेका क्या अर्थ है, आदि बातोंका ऊहापोह विस्तारसे करनेकी कोई जरूरत नहीं है। यदि हम संक्षेपसे ही यह देख लें कि स्वर्गमें क्या होता है और स्वर्ग-राज्य प्राप्त करनेके लिए क्या करना पडता है, तो पृथ्वीपर उससे होनेवाले परिणामोंका अन्दाजा आसानीसे लगाया जा सकता है।

पुराणोंमें स्वर्गका वर्णन बहुत बडे पैमानेपर है। कठोप-निषद्में भी उसका थोडा बहुत वर्णन है। वह इस प्रकार है-

स्वर्गे लोके किंचन भयं नास्ति।
न तत्र जरा, न मृत्युः बिभेति।
उभे अशनाया पिपासे तीर्त्वा।
शोकातिगो मोदते। (कठ उ.)

(१) स्वर्गमें भय नहीं। रास्ते पर चलते हुए पीछेसे कोई छुरी भोंक देगा, हमारा घर जला देगा, लूट लेगा, कोई हमारे पदार्थोंका अपहरण करेगा, कहीं घूमनेके लिए जाने पर कोई हम पर आक्रमण कर देगा, ऐसा कोई भय नहीं होता। स्वर्गके राज्यमें पूर्ण निर्भयता है। कुमारियां और स्त्रियां उद्यानमें निर्भय होकर घूम सकती हैं। इस प्रकारकी निर्भयताका निर्माण राज्यमें कितना सुखकारक है।

(२) स्वर्गमें बुढापा और अल्पमृत्युकी भीति नहीं है। मृत्यु नहीं है, इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि वहां अल्प-मृत्यु या अकाल मृत्यु नहीं है। क्योंकि मौतके शिकंजेसे ऋषि-मुनि भी नहीं बच सके। स्वर्गमें बुढापेमें तारुण्यावस्था की स्फूर्ति एवं उत्साह रहता है। रोगोंके कारण ही अकालमृत्यु होती है। पर यदि उत्तम और शक्तिदायक अन्न मिलने लगे, तो रोग भी कम हो जाते हैं और उस हिसाबसे अकालमृत्यु भी कम होजाती है।

(३) स्वर्गमें खाने पीनेके पदार्थोंकी कोई कमी नहीं रहती। खाद्य और पेय यथेच्छ मात्रामें मिलते हैं। फिर अकालसे लोगोंकी मृत्युका प्रश्न ही कहां? स्वर्गराज्यमें अकाल किस चिडियाका नाम है, यह भी नहीं जानते। वहां खाने पीनेके पदार्थ भरपूर हैं।

(४) वहां शोकका कारण नहीं, इसलिए शोकका भी बिल्कुल अभाव है। वहां निर्भयता है, नीरोगता है, वृद्धा-वस्थामें तारुण्यावस्थाकी स्फूर्ति रहती है, भरपूर खाने पीनेको मिलता है, फिर ऐसी जगहों पर शोकका वास्तव्य रहेगा भी तो किस तरह?

मतलब यह कि स्वर्गमें सर्वत्र आनन्द रहता है। इसी प्रकार के आनंदका साम्राज्य पृथ्वी पर भी स्थापित हो, यही ऋषियों की अभिलाषा थी। उनका कहना था कि—

यत् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि (शतपथ)

" देव जिस तरहका आचरण करते हैं, उसी तरहका आचरण में भी करूं। " निश्चित है कि यदि लोग इस तरहका आचरण करने लगेंगे तो पृथ्वी पर भी हमें स्वर्गलोकका आनन्द भोगनेको मिलेगा। इस सरलतम मार्गके पुरस्कर्ता ऋषियोंने स्वर्गसाम्राज्यकी पृथ्वी पर स्थापनाका आदर्श लोगोंके सामने रखा था।

गृहमंत्रीके कार्य

आज हमारे राष्ट्रकी आन्तरिक या कहूं सभी तरहकी दशा बिल्कुल विपरीत है। आज ऐसी परिस्थिति नहीं है कि लोग देशमें निर्भयतासे संचार कर सकें। आए दिन छुरेबाजीकी दुर्घटनायें सुननेमें आती हैं। व्यभिचार और अनाचारका बोलबाला है। स्त्रियोंकी इज्जत ही खतरेमें है। ऐसा कोई सप्ताह खाली नहीं जाता कि जिसमें रेलदुर्घटनायें न हों। लूटमार और डाकेजनीका बाजार गरम है। ये सभी देशनाशक कृत्य बन्द होने चाहिए। सभीको निर्भयतासे सर्वत्र संचार करनेका स्वातंत्र्य मिलना चाहिए। इस दृष्टिसे राष्ट्रके गृहमंत्रीकी जवाबदारियां अनगिनत हैं। राष्ट्रके गृहमंत्री और रक्षामंत्रीका यह फर्ज है कि वे राष्ट्रमें इसप्रकार निर्भयता-पूर्ण परिस्थितिका निर्माण करें।

स्वास्थ्यमंत्रीका कार्य

. गृहमंत्रीके बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान स्वास्थ्यमंत्रीका है। राष्ट्रमें रोगोंको कम करके लोगोंको स्वास्थ्य प्रदान करना, सांसर्गिक और तात्कालिक रोगोंको दूर करना स्वास्थ्य मंत्रीके कर्तव्य हैं। और हमारा देश इस क्षेत्रमें भी अग्रगण्य ही है। यहां अनेक तरहके रोगोंने अपने तम्बू गाड रखे हैं।

८८ उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भ्यामनयन्त शूषम् ।
उक्षा ह यत्र परि धानमक्तो रनु स्वं धाम जरितुर्ववक्ष ॥ ६ ॥
८९ अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः ।
प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः ॥ ७ ॥
९० दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति ।
ऋतं शंसन्त ऋतमित् त आहु रनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः ॥ ८ ॥
९१ वृषायन्ते महे अत्याय पूर्वी र्वृष्णे चित्राय रश्मयः सुयामाः ।
देव होतर्मन्द्रतरश्चिकित्वान् महो देवान् रोदसी एह वक्षि ॥ ९ ॥

अर्थ— [८८] मनुष्योंने (उतो महः महद्भ्यां पितृभ्यां) महान्से भी महान् पितृ-मातृ स्थानीय आकाश-पृथ्वीके (प्रविदा अनु घोषं) ज्ञानसे ऊँचे स्वरसे की गई स्तुतिसे प्राप्त होनेवाले (शूषं) सुखको (अनयन्त) प्राप्त किया। (उक्षा) जल सिंचन करनेमें समर्थ अग्नि (अक्तोः परिधानं स्वं धाम) रात्रीमें प्रकाशित अपने तेजको (जरितुः ह अनुववक्ष) स्तुति करनेवालेके प्रति प्रेरित करता है ॥ ६ ॥

१ शूषं प्रविदा— सुख ज्ञानसे प्राप्त होता है।

[८९] (पञ्चभिः अध्वर्युभिः सप्त विप्राः) पाँच अध्वर्युके साथ सात होता (वेः निहितं प्रियं पदं रक्षन्ते) गमनशील अग्निके प्रिय स्थानकी रक्षा करते हैं। (प्राञ्चः अजुर्याः उक्षणः देवाः मदन्ति) पूर्वकी ओर मुखवाले, परिश्रमसे न हारनेवाले, सोमरसपान करनेवाले स्तोता लोग प्रसन्न होते हैं और (देवानां व्रता हि अनु गुः) देवताओंके नियमोंके अनुकूल चलते हैं ॥ ७ ॥

१ देवानां व्रता अनु गुः मदन्ति— देवताओंके नियमोंके अनुसार चलनेवाले ही आनन्दमें रहते हैं।

[९०] (दैव्या होतारा प्रथमा निऋञ्जे) दिव्य होता स्वरूप दो अग्नियोंको मैं मुख्य रूपसे प्रज्वलित करता हूँ। (सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति) सप्त होता सोमपानसे प्रसन्न होते हैं। (व्रतपाः दीध्यानाः ते ऋतं शंसन्तः आहुः) नियमोंका पालन करनेवाले दीप्तिशाली वे होता लोग स्तुति करते हुए कहते हैं कि (व्रतं अनु ऋतं इत्) नियमसे रहनेवाला यह अग्नि ही ऋत है ॥ ८ ॥

१ व्रतपाः दीध्यानाः ऋतं आहुः— नियममें चलनेवाले तेजस्वी पुरुष ही सत्यभाषण करते हैं।

[९१] हे (देव, होतः) देदीप्यमान और देवोंको बुलानेवाले अग्ने! (महे, अत्याय, चित्राय वृष्णे) महान्, सबको अतिक्रमण करनेवाले, नानाविध वर्णोंवाले और बलवान् तुझे (पूर्वीः, सुयामाः रश्मयः वृषायन्ते) बहुतसी अतिशय विस्तृत, सर्वत्र व्याप्त ज्वालायें बलवान् बनाती हैं (मन्द्रतरः चिकित्वान्) हर्षयुक्त एवं ज्ञानवान् तू (महः देवान् रोदसी इह आ वक्षि) पूज्य देवोंको और द्यावापृथ्वीको हमारे पास यहां बुला ला ॥ ९ ॥

भावार्थ— इन महान् द्यावापृथ्वीके ज्ञानसे मनुष्योंको सुख प्राप्त होता है। वह अग्नि भी ऐसे मनुष्योंकी ओर अपना तेज प्रेरित करता है ॥ ६ ॥

सभी यज्ञ करनेवाले इस अग्निके प्रिय स्थानकी रक्षा करते हैं और ये याजक सोमपानसे तथा नियमोंके अनुशासनमें रह कर आनन्दित होते हैं ॥ ७ ॥

अग्नियोंको प्रज्वलित करनेके बाद याजक सोमपान करके प्रसन्न होते हैं। तब वे नियममें रहनेके कारण तेजस्वी होकर सत्यभाषी होते हैं ॥ ८ ॥

महान् तथा अनेक रूपोंवाले अग्निको उसकी ज्वालायें बलवान् बनाती हैं। हे अग्ने! तू हमारे पास सब देवोंको बुला ला ॥ ९ ॥

९२ पृक्षप्रयजो द्रविणः सुवाचः सुकेतव उषसो रेवदूषुः ।
उतो चिदग्ने महिना पृथिव्याः कृतं चिदेनः सं महे दशस्य ॥ १० ॥

९३ इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११ ॥

[८]

[ऋषिः- ११ गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- यूपः, ६-१० यूपाः, ८ विश्वे देवा वा, ११ व्रश्चनः ।
छन्दः- त्रिष्टुप्; ३, ७ अनुष्टुप्]

९४ अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद् वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥ १ ॥

अर्थ— [९२] हे (द्रविणः) धनसम्पन्न अग्ने ! तेरी प्रेरणासे (पृक्षप्रयजः) बहुतसे अन्नको प्राप्त करनेवाली, (सुवाचः) स्तुति आदि उत्तम वाणियोंसे युक्त (सुकेतवः) उत्तम किरणोंवाली (उषसः) उषायें (रेवत् ऊषुः) हमें धन देती हुई प्रकाशित होती हैं। अतः हे (अग्ने) अग्ने ! तू भी (पृथिव्याः महिना) अपनी विशाल महिमासे (महे कृतं एनः) उपासकके द्वारा किए गए पापको (सं दशस्य) नष्ट कर दे ॥ १० ॥

[९३] हे अग्ने ! तू (हवमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (शश्वत्तमं पुरुदंसं) चिरकाल तक उत्तम रहनेवाली अनेक उपयोगोंमें आनेवाली और (गो-सनिं इळां) गायोंको पुष्ट करनेवाली भूमिको दे। (नः सूनुः तनयः विजावा) हमारे पुत्र पौत्र वंशवृद्धि करनेवाले हों। हे (अग्ने) अग्ने ! (सा ते सुमतिः अस्मे भूत) वह तेरी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

१ हवमानाय शश्वत्तमं पुरुदंसं गो-सनिं इळां— हे अग्ने ! यज्ञ करनेवालेके लिए चिरकालतक उत्तम अन्न देनेवाली तथा गायोंको पुष्ट करनेवाली भूमि दे।

२ सा ते सुमतिः अस्मे भूत्— वह तेरी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो।

[८]

[९४] हे (वनस्पते) वनस्पते ! (देवयन्तः) देव बननेकी इच्छा करनेवाले जन (अध्वरे) यज्ञमें (त्वां) तुझे (दैव्येन मधुना) दिव्य मधुसे (अंजन्ति) सींचते हैं। तू (यत् ऊर्ध्वः तिष्ठा) चाहे ऊपर खडा हो, (यत् वा) अथवा (अस्याः मातुः उपस्थे क्षयं) इस पृथ्वी माताकी गोदमें पडा हुआ हो, (इह द्रविणा धत्तात्) इस यज्ञमें धन प्रदान कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तेरी ही प्रेरणासे उषायें मनुष्योंको धन देती हैं, अतः, हे अग्ने ! तू भी अपनी महिमासे भक्तोंके पापोंको क्षीण कर ॥ १० ॥

हे अग्ने ! तू देवोंके पूजकोंको हर तरहका ऐश्वर्य प्रदान कर। उन्हें अच्छी उपजाऊ भूमि दे और उत्तम बुद्धि प्रदान कर ॥ ११ ॥

यज्ञ स्थानमें एक यूप गाडा जाता है, यह यूप लकडीका होता है, इस यूपको दिव्य घृत आदिसे सींचा जाता है। यह यूप यज्ञमें अत्यन्त आवश्यक है ॥ १ ॥

९५ समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम् ।
आरे अस्मदमतिं बाधमान उच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

९६ उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि ।
सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे ॥ ३ ॥

९७ युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥ ४ ॥

९८ जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः ।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [९५] हे यूप ! (समिद्धस्य पुरस्तात् श्रयमाणः) प्रदीप्त हुई अग्निके आगे विद्यमान होकर (अजरं सुवीरं ब्रह्म वन्वानः) अत्यन्त श्रेष्ठ और वीरताके उत्पादक स्तोत्रको सुनते हुए (अस्मत् अमतिं आरे बाधमानः) हमारी दुर्बुद्धिको दूरसे ही नष्ट करते हुए (महते सौभगाय) हमारे महान् सौभाग्यके लिए तू (उत् श्रयस्व) ऊंचा खडा रह ॥२॥

[९६] हे (वनस्पते) वनस्पतिके यूप ! तू (पृथिव्याः अधि) पृथ्वीके ऊपर (वर्ष्मन् उत्-श्रयस्व) उत्तम स्थानमें ऊंचा खडा रह, तू (सुमिती मीयमानः) अपने उत्कृष्ट नापनेके साधनसे यज्ञस्थानको नापता हुआ (यज्ञवाहसे वर्चः धाः) यज्ञ करनेवालेको तेज दे ॥ ३ ॥

[९७] (युवा सुवासाः परिवीतः) तरुण, उत्तम वस्त्रोंसे लिपटा हुआ यह (आगात्) आ गया है । (सः) वह (जायमानः श्रेयान् भवति) उत्पन्न होते हुए बहुत उत्तम दिखलाई देता है । (देवयन्तः धीरासः) देवोंके समान बननेकी इच्छा करनेवाले बुद्धिमान् तथा (सु आध्यः) उत्तम अध्ययनशील (कवयः) ज्ञानी जन (मनसा तं उन्नयन्ति) मनसे उसे उन्नत करते हैं ॥ ४ ॥

[९८] (जातः) उत्पन्न हुआ यह यूप (समर्ये विदथे वर्धमानः) मनुष्योंसे भरे हुए यज्ञमें बढता हुआ (अन्हां सुदिनत्वे जायते) दिनोंको उत्तम बनाता है, (अपसाः धीराः) यज्ञ कर्म करनेवाले बुद्धिमान् जन (मनीषा पुनन्ति) बुद्धिपूर्वक उसे पवित्र करते हैं, (देवया विप्रः) देवोंकी पूजा करनेवाला ज्ञानी (वाचं उत् इयर्ति) स्तुतियोंका उच्चारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे यूप ! प्रदीप्त अग्निके सामने विद्यमान होकर उत्तम और उत्साहदायक स्तुतियोंको सुनते हुए और हमारी दुष्ट बुद्धियोंको नष्ट करते हुए हमारा सौभाग्य बढाओ ॥ २ ॥

हे यूप ! तू पृथ्वीके उत्तम स्थानपर ऊंचा खडा रह, और यज्ञस्थानको नापता हुआ यजमानको उत्तम अन्न और तेज दे ॥ ३ ॥

मजबूत और दृढ रस्सियोंसे बंधा हुआ यूप यज्ञस्थानमें लाया जाता है । इस यूपको तब बुद्धिमान् तथा अध्ययनशील ज्ञानी मनःपूर्वक धरतीमें गाडकर ऊंचा करते हैं ॥ ४ ॥

उत्पन्न होनेके बाद यह यूप मनुष्योंसे भरे हुए यज्ञस्थानमें लाया जाता है और वहां ज्ञानियोंके द्वारा जलादिसे पवित्र किया जाता है और उसी समय स्तोतागण इस यूपकी स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

९९ यान् वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वा ततक्ष ।
ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम् ॥ ६ ॥

१०० ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुचः ।
ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः ॥ ७ ॥

१०१ आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥ ८ ॥

१०२ हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः ।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ९ ॥

अर्थ— [९९] हे (वनस्पते) वनस्पतिसे बने हुए यूपो ! (यान् वः) जिन तुमको (देवयन्तः नरः) देवोंके समान बननेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंने (निमिम्युः) नापा, (वा) अथवा (स्वधितिः ततक्ष) फरसेने तुम्हें बनाया, (ते देवासः स्वरवः तस्थिवांसः) वे दिव्यगुणयुक्त, सूर्यके समान तेजस्वी तथा ऊंचे खडे हुए यूप (अस्मे) इस यज्ञकर्ताको (प्रजावत् रत्नं दिधिषन्तु) प्रजाओंसे युक्त रत्न प्रदान करें ॥ ६ ॥

[१००] (वृक्णासः ये) फरसेके द्वारा काटे छांटे गए जो यूप (यतस्रुचः) ऋत्विजोंके द्वारा (क्षमि अधि निमितासः) पृथ्वीमें गाडे गए हैं। (ते क्षेत्रसाधसः) वे यज्ञको सिद्ध करनेवाले यूप (देवत्रा) इस यज्ञमें (नः वार्यं व्यन्तु) हमें श्रेष्ठ धन प्रदान करें ॥ ७ ॥

[१०१] (सुनीथाः) उत्तम मार्गसे ले जानेवाले (आदित्याः) आदित्य (रुद्राः वसवः) रुद्र, वसु (पृथिवी द्यावाक्षामा) विस्तीर्ण द्युलोक और पृथ्वी तथा (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष आदि (सजोषसः देवाः) परस्पर प्रीतिसे रहनेवाले देवगण (यज्ञं अवन्तु) यज्ञकी रक्षा करें, और (अध्वरस्य केतुं) यज्ञके प्रज्ञापक इस यूपको (ऊर्ध्वं कृण्वन्तु) ऊंचा करें ॥ ८ ॥

[१०२] (शुक्राः वसानाः) तेजोंको धारण करनेके कारण (स्वरवः) सूर्यके समान चमकनेवाले ये यूप (हंसाः इव श्रेणिशः यतानाः) हंसके समान पंक्तियोंमें गाडे जाकर (नः आगुः) हमें दिखाई देते हैं। (पुरस्तात्) यज्ञके आगे (कविभिः उत् नीयमानाः देवाः) ज्ञानियोंके द्वारा खडे किये जानेपर ये तेजस्वी यूप (देवानां पाथः यन्ति) देवोंके मार्ग अन्तरिक्षमें जाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— हे यूपो ! तुम्हें श्रेष्ठ मनुष्योंने नाप कर फरसेसे काटा और इस यज्ञस्थानमें गाडा है। तभी तुम सूर्यके समान तेजस्वी हुए हो ! तुम यज्ञकर्ताको उत्तम सन्तानोंसे युक्त रत्न आदि धन दो ॥ ६ ॥

फरसेके द्वारा काटे छांटे गए ये यूप स्तम्भ पृथ्वीमें गाडे गए हैं। वे यज्ञको सिद्ध करनेवाले यूप हमें धन प्रदान करें ॥ ७ ॥

आदित्य, रुद्र, वसु, द्यु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदि सभी देवगण इस यज्ञकी रक्षा करें और यज्ञकी सूचना देनेवाले इस यूपको ऊंचा करें ॥ ८ ॥

तेजोंको धारण करनेके कारण सूर्यके समान चमकनेवाले ये यूप जब पंक्तियोंमें गाडे जाते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों हंसकी पंक्तियां आकाशमें उडी जा रही हों, यज्ञके स्थानमें ये यूप इतने ऊंचे गाडे जाते हैं, कि इनकी चोटियां अन्तरिक्षको छूती हैं ॥ ९ ॥

१०३ शृङ्गाणीवेच्छृङ्गिणां सं ददृश्रे चषालवन्तः स्वरवः पृथिव्याम् ।
वाघद्भिर्वा विहवे श्रोषमाणा अस्माँ अवन्तु पृतनाज्येषु ॥ १० ॥
१०४ वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय ॥ ११ ॥

[९]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- अग्निः । छन्दः- बृहती, ९ त्रिष्टुप् ।]

१०५ सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये ।
अपां नपातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥ १ ॥
१०६ कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
न तत् ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः ॥ २ ॥

अर्थ- [१०३] (स्वरवः) सूर्यके समान चमकनेवाले तथा (चषालवन्तः) किनारेपर लोहेकी पट्टीसे सुदृढ किए गए ये यूपस्तंभ (पृथिव्यां) पृथिवीमें गाडे जानेपर (शृंगिणां शृंगाणि इव) पशुओंके सींगके समान (सं ददृश्रे) दिखाई देते हैं । (वा) अथवा (विहवे वाघद्भिः श्रोषमाणाः) यज्ञमें स्तोताओंके द्वारा बोले जानेवाली स्तुतियोंको सुनते हुए ये यूप (पृतनाज्येषु अस्मान् अवन्तु) संग्रामोंमें हमारी रक्षा करें ॥ १० ॥

[१०४] (अयं तेजमानः स्वधितिः) इस अत्यन्त तीक्ष्ण फरसेने (महते सौभगाय) महान् सौभाग्यके लिए (यं त्वां प्रणिनाय) जिस तुझे बनाया, हे (वनस्पते) वनस्पते ! वह तू (शतवल्शः विरोह) सैंकडों शाखाओंवाला होकर उत्पन्न हो और (वयं) हम भी (सहस्रवल्शाः) हजारों शाखाओंसे युक्त होकर (वि रुहेम) उन्नति करें ॥ ११ ॥

[९]

[१०५] हे अग्ने ! (अपां नपातं, सुभगं, सुदीदितिं) जलको न गिरानेवाले, शोभन धन युक्त, दीप्तिमान् होनेवाले (सुप्रतूर्तिं, अनेहसं) सुखपूर्वक दुःखोंसे पार करानेवाले, उपद्रव रहित (त्वा देवं ऊतये ववृमहे) तुझ देवको अपनी रक्षाके लिये हम वरण करते हैं; क्योंकि हम तेरे (सखायः मर्तासः) मित्रभूत मनुष्य हैं ॥ १ ॥

[१०६] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं वना कायमानः) तू जंगलोंकी इच्छा करता हुआ (यत् मातॄः अपः अजगन्) जब अपने मातारूप जलोंके पास गया, तो (तत् ते निवर्तनं) वह तेरा निवृत्त हो जाना (न प्रमृषे) हमसे सहा नहीं गया, (यत् दूरे सन् इह अभवः) इस कारणसे दूर रहकर भी यहाँ हमारे पास ही रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ- ये यूपस्तम्भ सूर्यके समान चमकते हैं और इनके दोनों किनारे लोहेके गोल चक्र चढाये हुए होते हैं, जब ये यज्ञस्थानमें ऊंचे खडे किये जाते हैं, तब दूरसे ये पशुओंके सींगके समान दिखाई देते हैं ॥ १० ॥

हे वनस्पते ! तू तेजधारवाले फरसेके द्वारा बनाया गया है, ऐसा तू अनेक तरहसे समृद्ध होता हुआ हमें भी अनेकों प्रकारसे समृद्ध कर ॥ ११ ॥

हम सब दुःखोंसे पार करानेवाले तेजस्वी, अहिंसित अग्निकी अपनी रक्षाके लिए स्तुति करते हैं, वह हमारी मित्रवत् रक्षा करे ॥ १ ॥

यह अग्नि जंगलोंको जलानेकी इच्छा करता हुआ जलोंमें जाकर शान्त हो जाता है । पर फिर वही अग्नि अरणियों द्वारा पुनः प्रकट होता है ॥ २ ॥

१०७ अति तृष्टं ववक्षिथाऽथैव सुमना असि ।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥ ३ ॥

१०८ ईयिवांसमति स्रिधः शश्वतीरति सश्चतः ।
अन्वीमविन्दन् निचिरासो अद्रुहोऽप्सु सिंहमिव श्रितम् ॥ ४ ॥

१०९ ससृवांसमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम् ।
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ॥ ५ ॥

११० तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहन ।
विश्वान् यद् यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ॥ ६ ॥

अर्थ— [१०७] हे अग्ने ! तू (तृष्टं अति ववक्षिथ, अथ एव त्वं सुमना असि) बहुत उत्साहसे शब्द करता है इसीलिए तू सदा प्रसन्न रहता है । तू (येषां सख्ये श्रितः असि) तू जिनके साथ मित्रतासे रहता रहता है उनमेंसे (अन्ये प्रयन्ति) कुछ आगे बढ जाते हैं और (अन्ये परि आसते) कुछ उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

१ तृष्टं ववक्षति सुमना अस्ति— जो हमेशा उत्साहसे भरा रहता है; वही सदा प्रसन्न रहता है ।

२ येषां सख्ये श्रितः प्रयन्ति अन्ये आसते— यह अग्नि जिनसे मित्रता करता है वे आगे बढ जाते हैं, जब कि दूसरे नास्तिक बैठे रह जाते हैं ।

[१०८] (अ-द्रुहः निचिरासः) द्रोह न करनेवाले तथा अमर देवोंने (स्रिधः शश्वतीः सश्चतः अति) शत्रुकी महान् सेनाको परास्त करनेवाले तथा (सिंहं इव अप्सु श्रितं) शेरके समान जलमें छिपे हुए (ईयिवांसं ईं) प्रगति करनेवाले इस अग्निको (अनु विन्दन्) ढूंढ कर प्राप्त किया ॥ ४ ॥

[१०९] (ससृवांसं इव) जिस प्रकार स्वेच्छाचारी पुत्रको पिता बलसे खींच लाता है, (इत्था त्मना तिरोहितं) वैसे ही स्वेच्छासे घुसकर छिपे हुये (एनं अग्निं, मातरिश्वा) इस अग्निको मातरिश्वा नामक वायु (परिमथितं परावतः देवेभ्यः आनयत्) अच्छी प्रकार मथन कर दूर देशसे देवताओंके लिये ले आया ॥ ५ ॥

[११०] हे (मानुष, यविष्ठय) मनुष्योंके हितैषी और सदा तरुण रहनेवाले अग्ने ! तू (यत् तव क्रत्वा विश्वान् यज्ञान् अभिपासि) क्योंकि अपनी शक्तिसे संपूर्ण यज्ञोंका पालन करता है । (हव्यवाहन) इस कारण, हे हव्यको वहन करनेवाले अग्ने ! (मर्ताः तं त्वा देवेभ्यः अगृभ्णत्) मनुष्योंने उस तुझे देवताओंके निमित्त स्वीकार किया ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तू सदा उत्साह युक्त रहता है, इसीलिए सदा प्रसन्न रहता है । जिनपर तू प्रसन्न होता है, उन्हें उन्नत कर देता है और आगे बढाता है और नास्तिकोंकी सहायता नहीं करता ॥ ३ ॥

अत्यन्त दूर पर गुहामें स्थित सिंहके समान जलमें छिपे हुए उन्नति करनेवाले इस अग्निको देवोंने ढूंढ निकाला ॥ ४ ॥

जिस प्रकार स्वेच्छाचारी पुत्रको पिता उत्तम मार्गपर लाता है, उसी प्रकार स्वयं अपनी इच्छासे अरणियोंमें छिपे हुए अग्निको मातरिश्वाने मथ कर प्रकट किया ॥ ५ ॥

क्योंकि यह अग्नि अपने पराक्रमसे सब यज्ञोंका पालन करता है, अतः मनुष्योंने इसे देवोंको प्रसन्न करनेके लिए स्वीकार किया । इस अग्निमें आहुति देनेसे देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥

१११ तद् भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति ।
त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥ ७ ॥
११२ आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम् ।
आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत ॥ ८ ॥
११३ त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ९ ॥

[१०]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- अग्निः । छन्दः- उष्णिक् ।]

११४ त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम् । देवं मर्तास इन्धते समध्वरे ॥ १ ॥
११५ त्वां यज्ञेष्वृत्विज- मग्ने होतारमीळते । गोपा ऋतस्य दीदिहि स्वे दमे ॥ २ ॥

अर्थ— [१११] हे (अग्ने) अग्ने ! (तव तत् भद्रं दंसना) तेरा वह कल्याणकारी कर्म (पाकाय चित् छदयति) बालककी तरह अज्ञको भी पूजा करनेके लिए प्रेरित करता है। (यत् शर्वरे त्वं सं इद्धं) जब रात्रीमें तू प्रदीप्त होता है उस समय (पशवः अपि समासते) सारे पशु भी तेरी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

१ तत् भद्रं पाकाय चित् छदयति— अग्निका वह उत्तम पराक्रम अज्ञानीको भी पूजा की ओर प्रेरित करता है।

२ शर्वरे सं इद्धं पशवः अपि समासते— रात्रीमें अग्निके प्रदीप्त होनेपर पशु भी इस अग्निकी उपासना करते हैं।

[११२] हे मनुष्यो ! (पावकशोचिषं शीरं सुअध्वरं आ जुहोत) पवित्र तेजवाले, सर्वत्र सोये हुये, यज्ञकी शोभा बढानेवाले अग्निको आहुतियाँ प्रदान करो । तथा (आशुं, दूतं, अजिरं, प्रत्नं, ईड्यं, देवं, श्रुष्टी सपर्यत) व्याप्त दूतस्वरूप, शीघ्रगामी, पुरातन, स्तुतियोग्य दीप्तिमान् अग्निका शीघ्र पूजन करो ॥ ८ ॥

[११३] (त्री सहस्राणि, त्रीणि शता, त्रिंशत् च, नव च देवाः) तीन हजार तीनसौ उन्तालीस देवताओंने (अग्निं असपर्यन्) अग्निको पूजा, (घृतैः औक्षन्) घृतसे सींचा और (अस्मै बर्हिः अस्तृणन्) इसके लिये कुशासन बिछाया । (आत् इत् होतारं नि असादयन्त) फिर उन सबोंने अग्निको होता रूपसें वरण कर उस कुशासन पर प्रतिष्ठित किया ॥ ९ ॥

[१०]

[११४] हे (अग्ने) अग्ने ! (मनीषिणः मर्तासः) बुद्धिमान् मनुष्य (चर्षणीनां, सम्राजं, त्वां देवं) प्रजाओंके अधिपति तुझ देवको (अध्वरे सं इन्धते) यज्ञमें सम्यक् रूपसे प्रदीप्त करते हैं ॥ १ ॥

[११५] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वां होतारं ऋत्विजं यज्ञेषु ईळते) तुझ होता और ऋत्विज्‌की लोग स्तुति करते हैं । तू (ऋतस्य गोपाः स्वे दमे दीदिहि) यज्ञका रक्षक होकर अपने गृहमें प्रकाशित हो ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि अज्ञानी बालकको भी उत्तम कर्मकी ओर प्रेरित करता है, यही कारण है कि रात्रीके समय अग्निके जलनेपर पशु भी इस अग्निकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

हे मनुष्यो ! पवित्र तेजवाले सर्वत्र व्याप्त, यज्ञको उत्तम रीतिसे करनेवाले अग्निकी पूजा करो ॥ ८ ॥

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवोंने इस अग्निकी पूजा की और उसे घीसे सींचा, इसके लिए कुशासन बिछाया फिर उसे उस आसनपर होताके रूपसें बिठलाया ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य मनुष्योंके अधिपति इस देवको यज्ञमें अच्छी तरह प्रदीप्त करते हैं ॥ १-२ ॥

११६ स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे । सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ॥ ३ ॥
११७ स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरा गमत् । अञ्जानः सप्त होतृभिर्हविष्मते ॥ ४ ॥
११८ प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत् । विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ ५ ॥
११९ अग्निं वर्धन्तु नो गिरो यतो जायत उक्थ्यः । महे वाजाय द्रविणाय दर्शतः ॥ ६ ॥
१२० अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज । होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ७ ॥
१२१ स नः पावक दीदिहि द्युमदस्मे सुवीर्यम् । भवा स्तोतृभ्यो अन्तमः स्वस्तये ॥ ८ ॥
१२२ तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ॥ ९ ॥

अर्थ– [११६] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः ते जातवेदसे समिधा ददाशति) जो तुझ जातवेदके लिये समिधायें प्रदान करता है, (स घ सुवीर्यं धत्ते) वह निश्चयसे शोभन सामर्थ्ययुक्त पुत्रको प्राप्त करता है, और (स पुष्यति) वह पशु, पुत्र ऐश्वर्यादि द्वारा समृद्ध होता है ॥ ३ ॥

[११७] (अध्वराणां केतुः स अग्निः) यज्ञोंका प्रज्ञापक वह अग्नि (सप्त होतृभिः अञ्जानः) सात होताओं द्वारा घृतसे सिक्त होकर, (हविष्मते देवेभिः आ गमत्) यजमानोंके पास देवताओंके साथ आया है ॥ ४ ॥

[११८] हे ऋत्विजो ! तुम लोग, (विपां ज्योतींषि बिभ्रते) मेधावी व्यक्तियोंके तेजोंको धारण करनेवाले, (वेधसे होत्रे अग्नये) संसारके विधाता, देवोंको बुलानेवाले अग्निके लिये (बृहत् पूर्व्यं वचः प्र भरत न) महान् और प्राचीन स्तोत्र वाक्योंको कहो ॥ ५ ॥

[११९] (महे वाजाय द्रविणाय दर्शतः) महान् अन्न और धनके लिये अग्नि दर्शन करने योग्य है । (यतः उक्थ्यः जायते) जिन वाणियोंसे उसकी प्रशंसा होती है (नः गिरः) हमारी वही स्तुतिरूप वाणियाँ (अग्निं वर्धन्तु) अग्निको वर्धित करें ॥ ६ ॥

[१२०] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (अध्वरे यजिष्ठः) यज्ञकर्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ है । (देवयते देवान् यज) दिव्य और उत्तम कर्म करनेके लिए विद्वानोंको संगठित कर । तू (होता मन्द्रः स्रिधः अति विराजसि) होता, हर्षदाता और शत्रुओंको पराजित कर सुशोभित होता है ॥ ७ ॥

[१२१] (नः पावक) हमारे पापोंके शोधक हे अग्ने ! (सः अस्मे द्युमत् सुवीर्यं दीदिहि) वह हमारे लिये अत्यन्त तेज युक्त पराक्रम युक्त ऐश्वर्य प्रदान कर । तथा (स्तोतृभ्यः स्वस्तये अन्तमः भव) स्तोताओंके मंगल करनेके लिये उनके अत्यन्त पास जा ॥ ८ ॥

[१२२] (हव्यवाहं, अमर्त्यं सहः वृधं तं त्वा) हविवाहक, मरणरहित, बलसे बढे हुये उस तुझ अग्निको (विप्राः जागृवांसः विपन्यवः सं इन्धते) विद्वान् लोग, प्रबुद्ध रहनेवाले, मेधासम्पन्न स्तोता जन भली प्रकार प्रदीप्त करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ– जो इस जातवेद अग्निको प्रतिदिन प्रज्ज्वलित करता है, वह पुत्र प्राप्त कर ऐश्वर्यवान् होता है ॥ ३ ॥

यज्ञको चलानेवाला वह अग्नि घृतसे तेजस्वी होकर उपासकोंके पास देवताओंको लेकर आवे ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सब बुद्धिमान् इस तेजस्वी संसारको बनानेवाले अग्निकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार हम भी इस दर्शनीय अग्निकी स्तुति करें ॥ ५–६ ॥

यह अग्नि सभीमें श्रेष्ठ है, उत्तम कर्मके लिए सबको संगठित करनेवाला है । तथा सब शत्रुओंको पराजित कर सुशोभित होता है ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! विद्वान्, सदा जागृत रहनेवाले बुद्धिमान् स्तोता तुझे प्रदीप्त करते हैं अतः तू उन्हें हर तरहका ऐश्वर्य प्रदान कर और उनका कल्याण करनेके लिए उनके पास जा ॥ ८–९ ॥

[११]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- अग्निः । छन्दः- गायत्री ।]

१२३ अग्निर्होता पुरोहितो ऽध्वरस्य विचर्षणिः । स वेद यज्ञमानुषक् ॥ १ ॥
१२४ स हव्यवाळमर्त्य उशिग्दूतश्चनोहितः । अग्निर्धिया समृण्वति ॥ २ ॥
१२५ अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः । अर्थं ह्यस्य तरणि ॥ ३ ॥
१२६ अग्निं सूनुं सनश्रुतं सहसो जातवेदसम् । वह्निं देवा अकृण्वत ॥ ४ ॥
१२७ अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम् । तूर्णी रथः सदा नवः ॥ ५ ॥
१२८ साह्वान् विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः । अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥ ६ ॥

---

[११]

अर्थ— [१२३] (होता, पुरोहितः अध्वरस्य विचर्षणिः) देवोंको बुलानेवाला, सब कार्योंमें आगे रहनेवाला, यज्ञका विशेष द्रष्टा (सः अग्निः) वह अग्नि, (आनुषक् यज्ञं वेद) क्रमसे यज्ञको जानता है ॥ १ ॥

[१२४] (हव्यवाट् अमर्त्यः उशिक् दूतः चनोहितः) हव्यवाहक, मरणधर्मरहित, सबके द्वारा चाहने योग्य देवताओंका दूत और अन्नोंसे सबका हितकारी (सः अग्निः) वह अग्नि (धिया सं ऋण्वति) बुद्धिसे समन्वित है, अर्थात् अत्यन्त मेधावी है ॥ २ ॥

[१२५] (यज्ञस्य केतुः पूर्व्यः स अग्निः) यज्ञका प्रज्ञापक, प्राचीन वह अग्नि (धिया चेतति) अपनी बुद्धिसे सब कुछ जानता है । (अस्य अर्थं हि तरणि) इसके द्वारा दिया हुआ धन दुःखोंसे तारनेवाला है ॥ ३ ॥

१ अस्य अर्थं तरणि— इसके द्वारा दिया हुआ धन उपासकको दुःखोंसे पार करानेवाला होता है ।

[१२६] (सहसः सूनुं, सनश्रुतं, जातवेदसं अग्निं) बलके पुत्र, प्राचीनकालसे प्रसिद्ध, संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्निको (देवाः वह्निं अकृण्वत) देवताओंने अपना हव्यवाहक बनाया ॥ ४ ॥

[१२७] (मानुषीणां विशां पुरएता) मानवी प्रजाओंका अग्रणी नेता, (तूर्णिः) शीघ्रतासे कार्य करनेवाला (रथः सदा नवः अग्निः) प्रगति करनेवाला तथा सदा नवीन अग्नि किसीसे भी (अदाभ्यः) हिंसित नहीं होता ॥ ५ ॥

१ रथः— प्रगति करनेवाला ' रंहतेर्गतिकर्मणः ' ।

२ विशा पुरएता रथः सदा नवः अदाभ्यः— प्रजाओंका नेता हमेशा प्रगति करनेवाला होनेके कारण उत्साहसे सदा नया ही रहता है, इसीलिए उसे कोई दबा नहीं सकता ।

[१२८] (अभियुजः विश्वाः साह्वान्) शत्रुकी समस्त सेनाको अपने बलसे पराजित करनेवाला (अमृक्तः, देवानां क्रतुः अग्निः) अहिंसित देवताओंको प्रेरणा देनेवाला अग्नि, (तुविश्रवस्तमः) अन्न राशियोंसे युक्त है ॥ ६ ॥

भावार्थ— अमर, देवताओंका दूत, सबका हितकारी यह अग्नि उत्तम बुद्धिसे युक्त होता है, अतः संगठनके कार्यको उत्तम रीतिसे करता है ॥ १-२ ॥

प्राचीनकालसे प्रसिद्ध यह अग्नि अपनी बुद्धिसे सब कुछ जानता है, इसलिए इसे देवोंने अपना हव्यवाहक बनाया । इससे प्राप्त किया हुआ धन उपासकको दुःखसे तारनेवाला होता है ॥ ३-४ ॥

प्रजाओंका नेता यह अग्नि सदा ऊपरकी ओर ही चलता है इसलिए हमेशा नया ही रहता है और किसीसे दबता नहीं ॥ ५ ॥

दानी मनुष्य इस अग्निकी कृपासे पुष्टिदायक अन्न और घर प्राप्त करता है ॥ ६-७ ॥

१२९ अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः । क्षयं पावकशोचिषः ॥ ७ ॥
१३० परि विश्वानि सुधिता ऽग्नेरश्याम मन्मभिः । विप्रासो जातवेदसः ॥ ८ ॥
१३१ अग्ने विश्वानि वार्या वाजेषु सनिषामहे । त्वे देवास एरिरे ॥ ९ ॥

[१२]

[ऋषिः- गाथिनो विश्वामित्रः । देवता- इन्द्राग्नी । छन्दः- गायत्री ।]

१३२ इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता ॥ १ ॥
१३३ इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः । अया पातमिमं सुतम् ॥ २ ॥
१३४ इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे । ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥ ३ ॥
१३५ तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता । इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ ४ ॥

अर्थ— [१२९] (दाश्वान् मर्त्यः) दान देनेवाला मनुष्य (वाहसा प्रयांसि अभि अश्नोति) हव्यवाहक अग्नि द्वारा समस्त अन्नोंको चारों ओरसे प्राप्त करता है । तथा (पावकशोचिषः क्षयं) पवित्र करनेवाली किरणोंसे युक्त अग्नि घरसे भी प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

[१३०] (जातवेदसः विप्रासः) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले, मेधावी हम (अग्नेः मन्मभिः) अग्निके स्तोत्रों द्वारा (विश्वानि, सुधिता, परि अश्याम) सम्पूर्ण उत्तम अमृतको चारों ओरसे प्राप्त करें ॥ ८ ॥

१ सुधिता— अमृत ।

[१३१] हे (अग्ने) अग्ने ! (देवासः त्वं एरिरे) देवताओंने तुझसे ही प्रेरणा प्राप्त की, अतः हम भी तुझसे प्रेरित होकर (वार्या विश्वानि वाजेषु) वरण करने योग्य सम्पूर्ण धनोंको युद्धोंमें (सनिषा महे) प्राप्त करें ॥ ९ ॥

[१२]

[१३२] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! तुम दोनों (गीर्भिः) स्तुतियोंसे आहूत होकर (सुतं वरेण्यं) निचोडे गए और पीने योग्य इस सोमरसके प्रति (नभः आगतं) आकाशसे आओ, और (इषिता) प्रेरित होकर (अस्य धिया पातं) इसे इच्छानुसार पीओ ॥ १ ॥

[१३३] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (जरितुः सचा) स्तोताकी सहायता करनेवाला (यज्ञः) पूज्य तथा (चेतनः) उत्साह देनेवाला यह सोम (जिगाति) तुम्हारी ओर जा रहा है । (अया) हमारी इस प्रार्थनासे प्रेरित होकर तुम दोनों (इमं सुतं पातं) इस निचोडे हुए सोमरसको पीओ ॥ २ ॥

[१३४] (यज्ञस्य जूत्या) सोमयज्ञसे प्रेरीत होकर मैं (कविच्छदा इन्द्रं अग्निं वृणे) ज्ञानीको आनन्द देनेवाले इस इन्द्र और अग्निकी मैं प्रार्थना करता हूँ, (ता) वे दोनों (इह) यहां आकर (सोमस्य तृम्पतां) सोम पीकर तृप्त हों ॥ ३ ॥

[१३५] (तोशा) शत्रुओंके विनाशक (वृत्रहणा) वृत्रासुरको मारनेवाले (सजित्वाना) शत्रुओंको जीतनेवाले पर (अपराजिता) स्वयं अपराजित तथा (वाजसातमा) अत्यन्त श्रेष्ठ बलवाले इन (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्निको (हुवे) मैं बुलाता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रत्येक पदार्थको जाननेवाले बुद्धिमान् हम स्तोत्रोंके द्वारा अमरताको प्राप्त करें ॥ ८ ॥

देवगण भी इस अग्निसे ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अतः हम भी इससे प्रेरित होकर हरतरहका धन युद्धोंमें प्राप्त करें ॥ ९ ॥

हे इन्द्र अग्ने ! स्तोताओंकी सहायता करनेवाले और उत्तम इस सोमरसको हमने तैयार किया है । यह उत्साह देनेवाला है । तुम दोनों हमारी प्रार्थना सुनकर द्युलोकसे आकर इसे इच्छानुसार पीओ ॥ १-२ ॥

इन्द्र वृत्रका और अग्नि अन्धकारका नाश करनेवाला है, दोनों ही बलशाली, शत्रुओंके विजेता और स्वयं अपराजित हैं। मैं उन्हें बुलाता हूँ वे दोनों आकर सोमपान करें ॥ ३-४ ॥

१३६ प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः । इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥ ५ ॥
१३७ इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् । साकमेकेन कर्मणा ॥ ६ ॥
१३८ इन्द्राग्नी अपसस्पर्यु — प प्र यन्ति धीतयः । ऋतस्य पथ्याई अनु ॥ ७ ॥
१३९ इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च । युवोरप्तूर्यं हितम् ॥ ८ ॥
१४० इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः । तद् वां चेति प्र वीर्यम् ॥ ९ ॥

[१३]

[ऋषिः- ऋषभो वैश्वामित्रः । देवता- अग्निः । छन्दः- अनुष्टुप् ।]

१४१ प्र वो देवायाग्नये बर्हिष्ठमर्चास्मै ।
गमद् देवेभिरा स नो यजिष्ठो बर्हिरा सदत् ॥ १ ॥

अर्थ— [१३६] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि ! (नीथाविदः जरितारः उक्थिनः) श्रेष्ठ मार्गको जाननेवाले, स्तुति और प्रार्थना करनेवाले (वां प्र अर्चन्ति) तुम दोनोंकी पूजा करते हैं, मैं भी (इषे आ वृणे) अन्न प्राप्तिके लिए तुम्हारी पूजा करता हूँ ॥ ५ ॥

[१३७] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! तुम दोनोंने (साकं) साथ मिलकर (एकेन कर्मणा) एकबारके पराक्रमसे शत्रुओंके (नवतिं पुरः) नब्बे नगरों और (दासपत्नीः) दासकी पत्नियोंको (अधूनुतां) नष्ट कर दिया था ॥ ६ ॥

[१३८] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (अपसः धीतयः) उत्तम कर्म करनेवाले ज्ञानीजन (ऋतस्य पथ्याः अनु) सत्यके मार्गके अनुकूल (उप परि प्र यन्ति) हमेशा चलते हैं ॥ ७ ॥

१ अपसः धीतयः ऋतस्य पथ्याः अनु यन्ति— कर्म करनेवाले ज्ञानीजन सत्यमार्गके अनुकूल चलते हैं ।

[१३९] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (वां) तुम दोनोंके (तविषाणि प्रयांसि च) बल और अन्न (सधस्थानि) प्रतिष्ठादायक हैं, (युवोः) तुम दोनोंमें (अप्तूर्यं हितं) वृष्टि करनेका सामर्थ्य निहित है ॥ ८ ॥

[१४०] हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्ने ! (दिवः रोचना) द्युलोकको प्रकाशित करनेवाले तुम दोनों (वाजेषु परि भूषथः) संग्रामोंमें चारों ओरसे अलंकृत होते हो, (तत् वीर्यं) वह तुम्हारा पराक्रम (वां प्रचेति) तुम दोनोंको प्रसिद्ध करता है ॥ ९ ॥

[१३]

[१४१] हे स्तोताओ ! (वः अस्मै देवाय अग्नये) तुम इस दिव्यगुणवाले अग्निको (बर्हिष्ठं प्र अर्च) उत्तम स्तुति करो । जिससे (सः देवेभिः नः आगमत्) वह देवताओंके साथ हमारे पास आवे और (यजिष्ठः बर्हिः आ सदत्) अत्यन्त श्रेष्ठ वह अग्नि इस यज्ञमें विराजमान होवे ॥ १ ॥

१ यजिष्ठः बर्हिः आ सदत्— सबसे पूजनीय ही यज्ञमें सबसे मुख्य स्थान पर बैठता है ।

भावार्थ— हे इन्द्र और अग्ने ! तुम दोनोंने साथ मिलकर पराक्रमसे शत्रुओंके नब्बे नगर और उन असुरोंकी सहायता करनेवाली सेनाको मार दिया, इसलिए सब मनुष्य तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥ ५-६ ॥

हमेशा उत्तम कर्म करनेवाले ज्ञानी और बुद्धिमान् जन हमेशा सत्यमार्गपर चलते हैं, वे कभी असत्यका व्यवहार नहीं करते ॥ ७ ॥

हे इन्द्र और अग्ने ! तुम दोनों द्युलोकको प्रकाशित करनेवाले एवं संग्रामोंको जीतनेवाले हो, तुम्हारा वह बल तुम्हें प्रतिष्ठा प्रदान करता है और तुम्हारा पराक्रम तुम्हें सर्वत्र प्रसिद्ध करता है ॥ ८-९ ॥

हे स्तोताओ ! इस दिव्यगुणसे युक्त अग्निकी आराधना करो, ताकि वह इस यज्ञमें हमारे पास आकर बैठे ॥ १ ॥

✻

१४२ ऋतावा यस्य रोदसी दक्षं सचन्त ऊतयः ।
हविष्मन्तस्तमीळते तं सनिष्यन्तोऽवसे ॥ २ ॥
१४३ स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः ।
अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम् ॥ ३ ॥
१४४ स नः शर्माणि वीतये ऽग्निर्यच्छतु शंतमा ।
यतो नः प्रुष्णवद् वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा ॥ ४ ॥
१४५ दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः ।
ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [१४२] (यस्य रोदसी) जिस अग्निके वशमें आकाश-पृथ्वी है (ऊतयः दक्षं सचन्ते) रक्षा करनेवाले देवगण भी जिसकी शक्तिसे समर्थ होते हैं (तं) ऐसे उस अग्निकी (ऋतावा, हविष्मन्तः, ईळते) सत्य संकल्पवाले तथा हवि देनेवाले स्तुति करते हैं । और (सनिष्यन्तः तं अवसे) धनकी इच्छा करनेवाले अपने संरक्षणके लिए उसका ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

१ ऊतयः दक्षं सचन्ते— रक्षण करनेवाले देव भी इसी अग्निके सामर्थ्यसे समर्थ होते हैं ।

[१४३] (विप्रः सः एषां यन्ता) मेधावी वह अग्नि इन मनुष्योंका नियामक है । (अथः सः ही यज्ञानां) और वही निश्चयसे यज्ञोंका भी नियन्ता है । (दाता सः मघं वनिता) दाता वह श्रेष्ठ धनोंका देनेवाला है । अतः हे मनुष्यो ! (वः तं अग्निं दुवस्यत) तुम सब उस अग्निकी सेवा करो ॥ ३ ॥

१ विप्रः एषां यन्ता— ज्ञानी ही इन मनुष्योंका शासक हो सकता है ।

[१४४] (सः अग्निः नः शंतमा वीतये यच्छतु) वह अग्नि हमारे लिये अतीव सुखकर गृह उत्तम कर्म करनेके लिये प्रदान करे । और (यत् प्रुष्णवत् दिवि अप्सु) जो पोषणकारक धन द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें है, वह सब (वसु) श्रेष्ठ धन (क्षितिभ्यः आ) मनुष्योंको सब ओरसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[१४५] (ऋक्वाणः) स्तोतालोग (दीदिवांसं, अपूर्व्यं, होतारं, विशां विश्पतिं अग्निं) तेजस्वी, प्रतिक्षण नवीन, देवोंको बुलानेवाले, प्रजाओंके पालक अग्निको (अस्य वस्वीभिः धीतिभिः इन्धते) इसकी प्रशस्त बुद्धियोंसे प्रदिप्त करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— ये विशाल द्युलोक एवं पृथ्वीलोक भी इसी अग्निके वशमें हैं और सभी देव भी इसी अग्निके सामर्थ्यसे समर्थ हैं । उसी अग्निकी सब सत्यपालक उपासना करते हैं और अपने संरक्षणके लिए उसका सहारा लेते हैं ॥ २ ॥

वह ज्ञानी अग्नि सब मनुष्यों और यज्ञोंका नियामक है, वही सब श्रेष्ठ धनोंका दाता है, अतः उस श्रेष्ठ अग्निकी सेवा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

वह अग्नि उत्तम कर्म करनेके लिए हमें उत्तम घर देवे, तथा द्यु और अन्तरिक्षलोकमें जो पोषणकारक धन है, उसे सब मनुष्योंके पोषणके लिए देवे ॥ ४ ॥

सब स्तोतागण इस तेजस्वी, अपूर्व तथा प्रजाओंके पालक इस अग्निको अपनी उत्तम बुद्धियोंसे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

१४६ उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः ।
शं नः शोचा मरुद्वृधो ऽग्ने सहस्रसातमः ॥ ६ ॥
१४७ नू नो रास्व सहस्रवत् तोकवत् पुष्टिमद् वसु ।
द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम् ॥ ७ ॥

[१४]

[ऋषिः- ऋषभो वैश्वामित्रः । देवता- अग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

१४८ आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात् सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः ।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत् ॥ १ ॥
१४९ अयामि ते नमउक्तिं जुषस्व ऋतावस्तुभ्यं चेतते सहस्वः ।
विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र ॥ २ ॥

अर्थ— [१४६] (उत) और भी हे (अग्ने) अग्ने ! (ब्रह्मन् नः अविषः) स्तुतिके समय हमारी रक्षा कर। (देवहूतमः उक्थेषु) देवोंको बुलानेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ तू यज्ञमें भी हमारी रक्षा कर। (मरुत् वृधः सहस्रसातमः नः शं शोचः) मरुद्गणोंके द्वारा वर्धित तथा सहस्रों धनोंको देनेवाला तू हमारे सुखकी वृद्धि कर ॥ ६ ॥

[१४७] हे अग्ने ! तू (नः) हमको (तोकवत्, पुष्टिमत्, द्युमत् सुवीर्यं) पुत्रपौत्रादि सहित, पुष्टिकारक, दीप्तिमान्, सामर्थ्यशाली, (वर्षिष्ठं, अनुपक्षितं सहस्रवत् वसु नु रास्व) अत्यधिक श्रेष्ठ, क्षीण न होनेवाला, सहस्र संख्यक धन शीघ्र प्रदान कर ॥ ७ ॥

[१४]

[१४८] (होता, मन्द्रः सत्यः कवितमः) देवोंको बुलानेवाला, सुख बढानेवाला, सत्यका पालक अतिशय मेधावी, (यज्वा, वेधाः सः अग्निः विदथानि आ अस्थात्) यज्ञकारी, ज्ञानी वह अग्नि हमारे किये जानेवाले यज्ञोंमें आता है; (विद्युद्रथः, शोचिष्केशः सहसः पुत्रः) प्रकाशमान् रथवाला, ज्वालामय केशोंसे युक्त बलका पुत्र वह अग्नि (पृथिव्यां पाजः अश्रेत्) इस पृथ्वीपर अपना तेज प्रकट करता है ॥ १ ॥

[१४९] हे (ऋतावः) यज्ञयुक्त अग्ने ! मैं (ते नम उक्तिं अयामि) तुझसे नमस्कारपूर्वक भाषण करता हूँ। (सहस्वः, चेतते, तुभ्यं जुषस्व) शक्तिशाली अग्ने ! ज्ञानवान् तेरे लिए किए गए स्तुतिको तू स्वीकार कर। तू (विद्वान्, विदुषः आवक्षि) विद्वान् है अतः विद्वानोंको सब ओरसे अपने साथ ले आ। हे (यजत्र) यजनीय अग्ने ! (ऊतये, बर्हिः मध्ये आनि षत्सि) हमारी रक्षाके लिये बिछे हुये इस कुशासनपर विराजमान् हो ॥ २ ॥

१ नमः उक्तिं अयति— सबसे प्रणामपूर्वक अर्थात् विनम्रतापूर्वक भाषण करना चाहिए।

२ विद्वान् विदुषः आ वक्षि— विद्वान् ही अपने साथ विद्वानोंको ला सकता है।

भावार्थ— हे अग्ने ! स्तुतिके समय यज्ञोंमें तू हमारी रक्षा कर, तथा मरुतोंके द्वारा स्वयं भी पुष्ट होकर तू हजारों तरहके धन देकर हमारे सुखोंको बढा ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू हमें पुष्टिकारक, तेजस्वी, सामर्थ्य देनेवाले, अत्यधिक श्रेष्ठ तथा क्षीण न होनेवाला धन हजारोंकी संख्यामें दे ॥ ७ ॥

देवोंको बुलानेवाला सुखकारी, अत्यन्त ज्ञानी वह अग्नि हमारे यज्ञोंमें लाता है। तेजस्वी रथपर चढनेवाला, तेजस्वी तथा बलका पुत्र वह अग्नि इस पृथ्वीपर अपना तेज फैलाता है ॥ १ ॥

हे यज्ञके योग्य अग्ने ! मैं विनम्रतापूर्वक तेरी स्तुति करता हूँ। तू विद्वान् है अतः अपने साथ विद्वानोंको हमारे यज्ञमें ला, तथा स्वयं भी इस कुशासन पर बैठ ॥ २ ॥

१५० द्रवतां त उषसा वाजयन्ती अग्ने वातस्य पथ्याभिरच्छ ।
यत् सीमञ्जन्ति पूर्व्यं हविर्भि-रा वन्धुरेव तस्थतुर्दुरोणे ॥ ३ ॥

१५१ मित्रश्च तुभ्यं वरुणः सहस्वो ऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन् ।
यच्छोचिषा सहसस्पुत्र तिष्ठा अभि क्षितीः प्रथयन् त्सूर्यो नॄन् ॥ ४ ॥

१५२ वयं ते अद्य ररिमा हि काम-मुत्तानहस्ता नमसोपसद्य ।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवा-नस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने ॥ ५ ॥

१५३ त्वद्धि पुत्र सहसो वि पूर्वी-र्देवस्य यन्त्यूतयो वि वाजाः ।
त्वं देहि सहस्रिणं रयिं नो ऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने ॥ ६ ॥

अर्थ— [१५०] हे (अग्ने) अग्ने ! (वाजयन्ती, उषसा ते द्रवतां) अन्न देनेवाली उषा और रात्री तुझको लक्ष्य करके जाती हैं । तू (वातस्य पथ्याभिः अच्छ) वायुके मार्गसे आ । (यद् पूर्व्यं हविर्भिः सीं अञ्जन्ति) क्योंकि पुरातन ऋत्विक् लोग हवि द्वारा तुझे भलिभांति सींचते हैं । (वन्धुरा इव, दुरोणे आ तस्थतुः) जुओंकी तरह आपसमें मिली हुई उषा और रात्री हमारे घरमें आ कर रहें ॥ ३ ॥

[१५१] हे (सहस्वः अग्ने) बलवान् अग्ने ! (मित्रः वरुणः च विश्वे मरुतः) मित्र, वरुण और समस्त मरुत्-गण (तुभ्यं सुम्नं अर्चन्) तेरे लिये स्तोत्रका उच्चारण करते हुये पूजा करते हैं; (यत् सहसः पुत्र सूर्यः) क्योंकि हे बलके पुत्र अग्ने ! सबका प्रेरक तू (क्षितीः नॄन् अभि प्रथयन् शोचिषा तिष्ठाः) मनुष्योंके पथप्रदर्शक अपनी किरणोंको सम्मुख फैलाकर अपने तेजसे स्थित हो ॥ ४ ॥

[१५२] हे (अग्ने) अग्ने ! (अद्य उत्तानहस्ताः वयं कामं ते ररिम) आज ऊँचे हाथोंवाले हम शोभन हव्य तुझको प्रदान करते हैं । (विप्रः, नमसा उपसद्य यजिष्ठेन मनसा) मेधावी तू हमारे नमस्कारसे प्रसन्न होकर अपने उत्तम मनसे (अस्रेधता मन्मना देवान् यक्षि) प्रभूत स्तोत्रोंके द्वारा देवोंकी पूजा कर ॥ ५ ॥

[१५३] हे (सहसः पुत्र अग्ने) बलके पुत्र अग्ने ! (त्वत् पूर्वीः ऊतयः देवस्य वि यन्ति) तुझसे अत्यधिक विघ्नोंको दूर करनेवाली रक्षण शक्तियाँ, दिव्य मनुष्योंके पास जाती हैं; और (वाजाः हि वि) विविध प्रकारके अन्न भी निश्चयसे उन्हें प्राप्त होते हैं । हे अग्ने ! (त्वं) तू (अद्रोघेण वर्चसा सत्यं) द्रोहसे रहित, पापसे शून्य, भाषणसे प्राप्त होनेवाले अविनाशी (सहस्रिणं रयिं नः देहि) सहस्र संख्यक धनको हमें दे ॥ ६ ॥

१ त्वत् पूर्वीः ऊतयः देवस्य यन्ति— इस अग्निसे अनेक तरहकी रक्षण शक्तियां दिव्य मनुष्योंके पास जाती हैं ।

२ अद्रोघेण वचसा रयिः सत्यं— पापरहित कथनसे प्राप्त होनेवाला धन ही टिकता है ।

भावार्थ— अन्नसे युक्तमें उषा और रात्री भी इस अग्निकी सेवा करती हैं । यह अग्नि वायुके द्वारा प्रेरित होता है, इसलिये मानों वह वायुके मार्गसे ही सर्वत्र जाता है । प्राचीन ऋषिमुनि इसीकी पूजा करते आए हैं ॥ ३ ॥

यह अग्नि सबका प्रेरक एवं अपने प्रकाशसे सबके मार्गोंको प्रकाशित करता है । वह स्वयं अपने तेजसे स्थित है, अतः सब देवगण उसकी पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! हम आज हाथ ऊंचा करके उत्तम हवि तुझे देते हैं, वह हवि तू उत्तम मनसे देवोंको पहुंचा और अनेक स्तोत्रोंसे उनकी पूजा कर ॥ ५ ॥

इस अग्निकी अनेक तरहकी संरक्षणकी शक्तियां दिव्य मनुष्योंकी रक्षा करती हैं और उन्हें हर तरहसे समृद्ध बनाती हैं । हे अग्ने ! तू हमें ऐसा धन दे, जो पापरहित और सत्यमार्गसे कमाया गया हो ॥ ६ ॥

१५४ तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म ।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह ॥ ७ ॥

[१६]

[ऋषिः- कात्य उत्कीलः । देवता- अग्निः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।]

१५५ वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ ॥ १ ॥
१५६ त्वं नो अस्या उषसो व्युष्टौ त्वं सूर उदिते बोधि गोपाः ।
जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात ॥ २ ॥
१५७ त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि ।
वसो नेषि च पर्षि चात्यंहः कृधी नो राय उशिजो यविष्ठ ॥ ३ ॥

अर्थ— [१५४] हे (दक्ष, कविक्रतो देव) समर्थ, सर्वज्ञ, प्रकाशमान् अग्ने ! हम (मर्तासः अध्वरे तुभ्यं यानि इमा अकर्म) मनुष्य लोग यज्ञमें तेरे लिए जो इन हवियोंको देते हैं । हे ! (अमृत अग्ने) मरणरहित अग्ने ! तू (इह तत् सर्वं स्वद) इस यज्ञमें दिये हुये उन सब हव्योंका आस्वादन कर तथा (त्वं सुरथस्य, विश्वस्य बोधि) तू सुन्दर रथ पर बैठे हुये अर्थात् समृद्ध सभी मनुष्योंकी रक्षाके लिये जागृत हो ॥ ७ ॥

[१६]

[१५५] हे अग्ने ! (पृथुना पाजसा शोशुचानः) विस्तीर्ण तेजके द्वारा अतीव प्रकाशमान् तू (द्विषः अमीवाः रक्षसः वि बाधस्व) द्वेष करनेवाले शत्रुओं, तथा सामर्थ्ययुक्त राक्षसोंका विनाश कर । (सुशर्मणः बृहतः सुहवस्य अग्नेः) उत्कृष्ट सुख देनेवाले, महान् और आसानीसे बुलाये जाने योग्य अग्निके (प्रणीतौ शर्मणि अहं स्यां) सुखकारक मैं रहनेवाला होऊँ ॥ १ ॥

१ सुशर्मणः प्रणीतौ शर्मणि अहं स्याम्— उत्तम सुखदायक अग्निके संरक्षणमें मैं होऊं ।

[१५६] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं अस्याः उषसः व्युष्टौ सूरे उदिते) तू इस उषाके प्रकट होनेके पश्चात् और सूर्यके उदय होनेपर (नः गोपाः बोधि) हमारी रक्षाके लिये जाग्रत हो, (तन्वा सुजातः त्वं) स्वयं अपनी ज्वालाओंसे प्रकट होनेवाला तू (मे स्तोमं नित्यं जुषस्व) मेरे स्तोत्रको रोज उसी प्रकार सुन, जिस प्रकार (जन्म तनयं इव) पिता पुत्रकी सुनता है ॥ २ ॥

१ त्वं उषसः सूरे उदिते नः गोपाः— हे अग्ने ! तू उषा और सूर्यके उदय होनेपर हमारी रक्षा कर ।

[१५७] हे (वृषभः अग्ने) बलवान् अग्नि ! (नृचक्षाः) मनुष्योंके शुभ और अशुभ कर्मोंको देनेवाला (कृष्णासु अरुषः अनुपूर्वीः वि भाहि) अन्धेरी रातोंमें भी प्रकाशित होनेवाला तू बहुत ज्वालाओंसे चमक । हे (वसो) निवास देनेवाले अग्ने ! हमको (नेषि, च अंहः अति पर्षि) दुःखोंसे पार ले जा और पापोंसे हमें पार करा (च यविष्ठ नः राये उशिजः कृधि) तथा हे तरुण अग्ने ! हमको धनसे सम्पन्न कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे समर्थ और सर्वज्ञ अग्ने ! हम यज्ञमें जो हवियां देते है, उनका तू सेवन कर और उत्तम उत्तम मनुष्योंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

वह अग्नि अपने तेजके कारण सर्वत्र प्रकाशित और सभी रोगों एवं शत्रुओंको दूर करनेवाला है । अतः हम इसके सुखदायक संरक्षणमें रहें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! तू सबेरे शाम अर्थात् हमेशा हमारी रक्षा कर तथा हमारी प्रार्थनाओंको प्रेमपूर्वक सुन ॥ २ ॥

मनुष्योंके सब कर्मोंपर नजर रखनेवाला यह अग्ने अन्धेरी रात्रीयोंमें भी चमकता है । यह उत्तम अग्नि मनुष्योंको दुःखों और पापोंसे पार कराकर इन्हें धन सम्पन्न बनाता है ॥ ३ ॥

१५८ अषाळहो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान् ।
यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायो— र्जातवेदो बृहतः सुप्रणीते ॥ ४ ॥
१५९ अच्छिद्रा शर्म जरितः पुरूणि देवाँ अच्छा दीद्यानः सुमेधाः ।
रथो न सस्निरभि वक्षि वाज— मग्ने त्वं रोदसी नः सुमेके ॥ ५ ॥
१६० प्र पीपय वृषभ जिन्व वाजा— नग्ने त्वं रोदसी नः सुदोघे ।
देवेभिर्देव सुरुचा रुचानो मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात् ॥ ६ ॥
१६१ इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा ऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ७ ॥

अर्थ— [१५८] हे (अग्ने) अग्ने ! (अषाळहः) अपराजित तथा (वृषभः विश्वाः पुरः सौभगा संजिगीवान् दिदीहि) बलवान् तू शत्रुओंकी सब नगरी और उत्तम धनोंका जीत करके सर्वत्र अपनी ज्वालासे प्रकाशित हो हे (सुप्रणीते जातवेदः) अच्छे प्रकारसे ले चलनेवाले सर्वज्ञ अग्ने ! (बृहतः पायोः प्रथमस्य यज्ञस्य नेता) महान् और शरण देनेवाले मुख्य यज्ञका नेता है ॥ ४ ॥

[१५९] हे (जरितः) स्तोता अग्ने ! (सुमेधाः दीद्यानः) शोभान ज्ञानसे युक्त और अपने तेजसे दीप्तिमान् तू (देवान् अच्छ शर्म पुरूणि अछिद्रा) देवोंको लक्ष्य करके सुखके साधनभूत अनेक उत्तम कर्मोंको कर। हे (अग्ने त्वं) अग्ने ! तू (सस्निः रथः न, नः वाजं वक्षि) यहीं ठहर कर रथकी तरह देवोंके निमित्त हमारे हव्यको ले जा। तथा (रोदसी, सुमेके) द्यावापृथ्वीको अच्छी प्रकार प्रकाशित कर ॥ ५ ॥

[१६०] हे (वृषभ अग्ने) बलवान् अग्ने ! (त्वं नः प्र पीपय) तू हमें पूर्ण कर। तथा (वाजान् जिन्व) अनेक प्रकारके अन्नोंको हमें प्रदान कर। (सुरुचा रुचानः देव) शोभन दीप्तिसे तेजस्वी तथा दिव्य गुणोंवाले अग्ने ! तू (देवेभिः रोदसी सुदोघे) देवोंके साथ द्यावापृथ्वीको उत्तम फल देनेवाला कर। तथा (मर्तस्य दुर्मतिः नः मा परि स्थात्) मनुष्योंकी दुर्बुद्धि कभी भी हमारे निकट न आवे ॥ ६ ॥

१ मर्तस्य दुर्मतिः नः मा परि स्थात्— मनुष्योंकी दुर्बुद्धि हमारे पास कभी भी न आवे।

[१६१] हे अग्ने ! (हवमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (शश्वत्तमं पुरुदंसं) चिरकालतक उत्तम रहनेवाली अनेक उपयोगोंमें आनेवाली और (गो-सनिं इळां) गायोंको पुष्ट करनेवाली भूमिको दे। (नः सूनुः तनयः विजावा) हमारे पुत्र पौत्र वंशवृद्धि करनेवाले हों। हे (अग्ने) अग्ने ! (सा ते सुमतिः अस्मे भूत्) वह तेरी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तू अपराजित और बलवान् होकर शत्रुओंकी सभी नगरियों और धनोंको जीतकर सर्वत्र प्रकाशित हो तथा हमारे उत्तम यज्ञोंको पूर्ण कर ॥ ४ ॥

हे स्तोता अग्ने ! तू उत्तम ज्ञानसे युक्त होकर उत्तम कार्यको कर, एवं हमारी हवियोंको देवोंतक पहुंचा और द्युलोक और पृथ्वीलोकको अपने तेजसे प्रकाशित कर ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! हमें सब ओरसे पूर्ण तथा समृद्ध कर, तू सब देवों और द्युलोक तथा पृथ्वीको उत्तम फल देनेवाला बना। इससे युक्त होकर हम कभी भी बुरी बुद्धिवाले न हों ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! तू देवोंके पूजकोंको हर तरहका ऐश्वर्य प्रदान कर। उन्हें अच्छी उपजाऊ भूमि दे और उत्तम बुद्धि प्रदान कर ॥ ७ ॥

Regd. No. G. 71

सस्ता संस्करण] [आज ही ग्राहक बनिए

सम्पूर्ण महाभारत

(१८ जिल्दोंमें)

(संस्कृत श्लोक और हिन्दी अनुवाद सहित)

साइज- डबल क्राऊन आठ पेजी, बडा टाइप] [उत्कृष्ट छपाई व कागज, कुल पृ. सं. १२२१६

प्रधान सम्पादक

म. म. डॉ. पं. श्री. दा. सातवलेकर

सटीक एवं सचित्र महाभारतका यह नवीन संस्करण बहुत शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है, जो १८ भागोंमें सम्पूर्ण होगा।

(१) महाभारतका पूरा सेट (१८ भाग) १००) रु. में मिलेगा। इस कीमत पर पुस्तक विक्रेताओं तथा अन्य शिक्षण संस्थाओंको १५ % कमीशन दिया जायगा। डाकव्यय, पेकिंग और रेलभाडा सब ग्राहकको देना होगा।

(२) जो व्यक्तिशः महाभारतका पूरा सेट खरीदना चाहेंगे, उन्हें इस पूरे सेटकी कीमत १००) पर १० % कमीशन दिया जाएगा। डाकव्यय, पेकिंग खर्च और रेलभाडा ग्राहकके जिम्मे रहेगा।

(३) जो व्यक्ति महाभारतके पूरे सेटका अग्रिम मूल्य (Advance) भेजेंगे, उन्हें इस पूरे सेटकी कीमत १००) पर १५ % कमीशन दिया जायगा।

(४) अग्रिम धन (Advance) भेजनेकी सुविधा ३१ अगस्त १९६८ तक ही रहेगी।

अतः आज ही अग्रिम धन भेजकर महाभारतके भागोंके ग्राहक बनकर अल्प-मूल्यमें ही इस ग्रंथरत्नका संग्रह करें।

विशेष विवरणके लिए लिखें।

व्यवस्थापक—
" महाभारत प्रकाशन-विभाग "
पोस्ट- स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
जि. बलसाड [गुजरात]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. ' स्वाध्याय-मंडल (पारडी) ' पारडी [बलसाड]